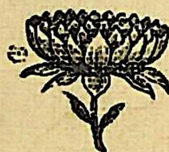
जैन इतिहासकी पूर्वपीठिका

और

हमारा अभ्युत्थान



लेखक
प्रो. हीरालाल जैन
एम० ए०, एल एल० बी०



श्रीमान् सेठ रामकरनलालजी, थाला-निवासी, की धर्मपत्नी
स्वर्गीय रामकली देवी की स्मृतिमें

जैन इतिहास की पूर्व पीठिका

और

हमारा अभ्युत्थान

लेखक

प्रो. हीरालाल जैन,
एम्. ए., एल्.एल्. बी.

प्रकाशक
हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

मुद्रक
मॅनेजर--सरस्वती प्रेस, अमरावती.

१९३९] [मूल्य १)

स्मृति में—

मैंने—

एक अन्नदान-शाला खोल दी है;

एक छात्रवृत्ति प्रारम्भ कर दी है;

इस ग्रंथ का प्रकाशन करा दिया है;

और—

दुखी
रामकरनलाल



जन्म
१९१७

स्व. रामकली देवी

स्वर्गवास
१९३८

सहधर्मिणी, सेठ रामकरनलालजी,

सुपुत्री, प्रो. हीरालालजी.

वक्तव्य

प्रस्तुत लेख अन्य ग्रंथों, पत्र-पत्रिकाओं और सभामंचों द्वारा पहले भी जनता तक पहुँच चुके हैं। समय बराबर बीतता जाताहै, पर इन संकलनों और विचारों की आवश्यकता ज्यों की त्यों बनी हुई है। सम्भव है इस व्यवस्थित स्थायी रूप में आजानेसे उनका प्रभाव समाज पर कुछ और अधिक तथा जल्दी पड़ सके।

हीरालाल.



विषय सूची

भाग १—इतिहास.

		पृष्ठ
१	जैन इतिहासकी पूर्व पीठिका	१
२	हमारा इतिहास	११
३	प्राचीन इतिहास-निर्माण के साधन	१७
४	जैन धर्म का प्रसार	६०
	संयुक्तप्रान्त	७९
	मध्यप्रदेश	८६
	बरार	९४
	मध्यभारत	१००
	राजपूताना	१०४
	बम्बई	१०८
	मद्रास और मैसूर	११४

भाग २—समाज

१	हमारा अभ्युत्थान	१
२	संस्कृति-रक्षा	१६
३	समाज-संगठन	३७
४	धर्म प्रभावनाके समयोचित उपाय	५२

जैन इतिहासकी पूर्व-पीठिका

इतिहासकी आवश्यकता।

जिस प्रकार किसी व्यक्तिविशेषकी मान-मर्यादाके लिये उसका पूर्व-वृत्तांत जानना आवश्यक है, उसी प्रकार किसी देश व समाजको वर्तमान संसारमें सन्मान प्राप्त करनेके लिये अपना इतिहास उपस्थित करनेकी आवश्यकता है। एक विद्वान् का कथन है कि भारतवर्षकी संसारमें आज जो कदर होना चाहिये वह इसी कारणसे नहीं होती कि संसारको इस देशके सच्चे और गौरवपूर्ण इतिहासका पता नहीं है। यह उक्ति जैन धर्मके विषयमें और भी विशेषरूपसे घटित होती है। संसारकी विद्वत्समाजमें जो आज जैनधर्मके विषयमें अनेक भ्रमपूर्ण कल्पनायें और मत फैले हुए हैं उनका मूल कारण यही है कि अभीतक जैन धर्मका सच्चा इतिहास संसारके सन्मुख नहीं रक्खा गया। जबतक यह कमी सुचारुरूपसे पूरी नहीं की जायगी तब-तक न तो उन भ्रम-पूर्ण कल्पनाओंका निराकरण हो सकता और न जैनधर्मका गौरव संसारमें बढ़ सकता है।

प्रामाणिक इतिहासके साधन।

एक समय था जब मनुष्योंकी ऐतिहासिक लालसा किसी प्रकारकी भी दैवी व मानुषी घटनाओंके पढ़ने सुननेसे तृप्त हो जाती थी, पर आजकल इतिहासका अर्थ कुछ और ही होगया

है। आजकल केवल वे ही घटनायें इतिहास-क्षेत्रमें मान्य हो सकती हैं जो प्राकृतिक नियम व मानवीय युक्तिके अविरुद्ध होती हुई निम्नलिखित आधारों द्वारा अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करती हैं:—

१ तात्कालिक शिलालेख, ताम्रपत्र, मुद्रा आदि।

२ समकालीन ग्रन्थ।

३ पुरातत्व सम्बंधी ध्वंशावशेष।

४ कुछ समय पीछेके शिलालेखादि व ग्रंथादि।

उक्त चार प्रकारके साधन ही आजकल इतिहास-निर्माणके उपयुक्त साधन गिने जाते हैं। इन साधनोंकी यथोचित ऊहापोह के पश्चात् जो इतिहास तैयार किया जाता है वही सर्वतः मान्य होता है। इन चार साधनोंमें भी क्रमशः ऊपर ऊपरवाला साधन अपनेसे नीचेवाले साधनसे अधिक बलवान् प्रमाण गिना जाता है।

इतिहासातीत काल।

भारतवर्षके प्राचीन इतिहासमें विक्रम संवत्के चार पांचसौ वर्ष पूर्वसे इस तरफके लिये तो उपर्युक्त चारों प्रकारके साधन थोड़ेबहुत प्रमाणमें उपलब्ध हुए हैं, पर इसके पूर्वके इतिहासके लिये इन सब साधनोंके अभावमें हमें केवल प्राचीन ग्रन्थोंका ही सहारा लेना पड़ता है। इसीलिये वैज्ञानिक इतिहासकार इस कालको इतिहासातीत काल कहते हैं।

जैन पुराणोंकी प्रामाणिकता

जैनधर्मका सर्वमान्य इतिहास महावीर स्वामीके समयसे व उससे कुछ पूर्वसे प्रारंभ होता है। इसके पूर्वके इतिहासके लिये एक मात्र सामग्री जैनधर्मके पुराण ग्रंथ हैं। इन पुराण-ग्रन्थोंके रचनाकाल और उनमें वर्णित घटनाओंके कालमें हजारों, लाखों, करोड़ों नहीं अरबों खर्वों वर्षोंका अन्तर है। अतएव उनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता इस बातपर अवलंबित है कि वे कहांतक प्राकृतिक नियमोंके अनुकूल, मानवीय विवेकके अविरुद्ध व अन्य प्रमाणोंके अप्रतिकूल घटनाओंका उल्लेख करते है। यदि ये घटनायें प्रकृति-विरुद्ध हों, मानवीय बुद्धिके प्रतिकूल हों व अन्य प्रमाणोंसे बाधित हों, तो वे धार्मिक श्रद्धाके सिवाय अन्य किसी आधारपर विश्वसनीय नहीं मानी जा सकतीं, पर यदि वे उक्त नियमों और प्रमाणोंसे बाधित न होती हुई पूर्वकालका युक्ति-संगत दर्शन कराती हों तो उनकी ऐतिहासिकतामें भारी संशय करनेका कोई कारण नहीं होसकता।

जिन इतिहास-बिशारदोंने जैन पुराणोंका अध्ययन किया है उनका विश्वास उन पुराणोंकी निम्नलिखित तीन बातोंपर प्रायः नहीं जमता:—

१ पुराणोंके अत्यन्त लम्बे चौड़े समय-विभागोंपर।

२ पुराणोंमें वर्णित महापुरुषोंके भारी भारी शरीर-मापोंपर व उनकी दीर्घातिदीर्घ आयुपर।

३ कालके परिवर्तनसे भोगभूमि व कर्मभूमिकी रचनाओंके विपरिवर्तनपर।

'पल्य' और 'सागर' के मापोंकी यथार्थता।

जैन पुराणोंमें अरबों खर्बों ही नहीं पल्य और सागरों (आधुनिक संख्यातीत) वर्षोंके माप दिये गये हैं। इनको पढकर पाठकोंकी बुद्धि थकित होजाती है और वे झट इसे असम्भव कहकर अपने मनके बोझको हल्का कर डालते हैं। किन्तु विषयपर निष्पक्षतः, बुद्धिपूर्वक विचार करनेसे इन मापोंमें कुछ असम्भवनीयता नहीं रह जाती। यह सभी जानते हैं कि समयका न आदि है और न अन्त। वैज्ञानिक शोध और खोजने यह भी सिद्धकर दिया है कि इस सृष्टिके प्रारम्भका कोई पता नहीं है और न उसमें मनुष्य-जीवन के इतिहास-प्रारम्भका ही कुछ कालनिर्देश किया जासकता है। सन् १८५८ ईस्वीके पूर्व पाश्चात्य विद्वानोंका मत था कि इस पृथ्वीपर मनुष्यका इतिहास आदिसे लेकर अब तकका पूरा पूरा ज्ञात है, क्योंकि 'बाइबिल' के अनुसार सर्व प्रथम मनुष्य 'आदम' की उत्पत्ति ईसासे ४००४ वर्ष पूर्व सिद्ध होती है। पर सन् १८५८ ईस्वीके पश्चात् जो भूगर्भ-विद्यादि विषयोंकी खोज हुई उससे मनुष्यकी उक्त समयसे बहुत अधिक पूर्व तक प्राचीनता सिद्ध होती है। अब इतिहासकार ४००४ ईस्वी पूर्वसे भी पूर्वकी मानवीय घटनाओंका उल्लेख करते हैं। मिश्रदेशकी प्रसिद्ध गुम्मटों (Pyramids) का निर्माण-काल ईस्वीसे पांच हजार वर्ष पूर्व अनुमान किया जाता है। खाल्दिया (Chaldea)

देशमें ईसासे छह सात हजार वर्ष पूर्वकी मानवीय सभ्यताके प्रमाण मिले हैं। चीन देशकी सभ्यता भी इतनी ही व इससे अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। अमेरिका देशमें पुरातत्व शोधके सम्बंधमें जो खुदाईका काम हुआ है उसका भी यही फल निकला है। हाल ही में भारतवर्षके पंजाब और सिन्ध प्रदेशोंके 'हरप्पा' और 'मोयनजोडेरो' नामक स्थानोंपर खुदाईसे जो प्राचीन ध्वंसावशेष मिले हैं वे भी ईसासे आठ दस हजार वर्ष पूर्वके अनुमान किये जाते हैं। ये सब प्रमाण भी हमें मनुष्यके प्रारम्भिक इतिहासके कुछ भी समीप नहीं पहुंचाते। वे केवल यही सिद्ध करते हैं कि उतने प्राचीन-कालमें भी मनुष्यने अपार उन्नति करली थी, ऐसी उन्नति जिसके लिये उन्हें हजारों लाखों वर्षोंका समय लगा होगा। अब चीन, मिश्र, खाल्दिया, इंडिया, अमेरिका, किसी ओर भी देखिये, इतिहासकार ईसासे आठ आठ दस दस हजार वर्ष पूर्वकी मानवीय सभ्यताका उल्लेख विश्वास के साथ करते हैं। जो समय कुछ काल पहले मनुष्यकी गर्भावस्थाका समझा जाता था, वह अब उसके गर्भका नहीं, बचपनका भी नहीं, प्रौढ कालका सिद्ध होता है। जितनी खोज होती जाती है उतनी ही अधिक मानवीय सभ्यताकी प्राचीनता सिद्ध होती जाती है। कहां है अब मानवीय सभ्यताका प्रातः-काल? इससे तो प्राचीन रोमन हमारे समसामयिकसे प्रतीत होते हैं, यूनानका सुवर्ण-काल कलका ही समझ पड़ता है। मिश्रके गुम्मटकारों और हममें केवल थोड़ेसे दिनोंका ही अन्तर पड़ा प्रतीत होता है। मनुष्यकी प्रथमोत्पत्तिका अध्याय आधुनिक इतिहास हीसे उड़ गया है। ऐसी अवस्थामें जैन पुराणकार

मानवीय इतिहासके विषयमें यदि संख्यातीत वर्षोंका उल्लेख करें तो इसमें आश्चर्यकी बात ही क्या है ? इसमें कौनसी असम्भाव्यता है ? पुरातत्वज्ञोंका अनुभव भी यही है कि मानवीय इतिहास संख्यातीत वर्षोंका पुराना है।

दीर्घ शरीर और दीर्घायु।

दूसरा संशय महापुरुषोंके शरीर माप और उनकी दीर्घातिदीर्घ आयुके विषयका है। जो कुछ आजकल देखा सुना जाता है उसके अनुसार सैकडों हजारों धनुष ऊंचे शरीर व कोड़ाकोड़ी वर्षोंकी आयुपर एकाएकी विश्वास नहीं जमता। इस विषयमें मैं पाठकोंका ध्यान उन भूगर्भ शास्त्रकी गवेषणाओंकी ओर आकर्षित करता हूँ जिनमें प्राचीन कालके बड़े बड़े शरीरधारी जन्तुओंका अस्तित्व सिद्ध हुआ है। उक्त खोजोंसे पचास पचास साठ साठ फुट लम्बे प्राणियोंके पाषाणावशेष (Fossils) पाये गये हैं। इतने लम्बे कुछ अस्थिपञ्जर भी मिले हैं। जितने अधिक दीर्घकाय ये अस्थिपंजर व पाषाणावशेष होतें हैं वे उतने ही अधिक प्राचीन अनुमान किये जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि पूर्वकालमें प्राणी दीर्घकाय हुआ करते थे। धीरे धीरे उनके शरीरका न्हास होता गया। यह न्हास-क्रम अभी भी प्रचलित है। इस नियमके अनुसार जितना अधिक प्राचीनकालका मनुष्य होगा उसे उतना ही अधिक दीर्घकाय मानना न केवल युक्तिसंगत ही है, किन्तु आवश्यक है।

प्राणिशास्त्रका यह नियम है कि जिस जीवका भारी शारि-

रिक परिमाण होगा उतनी ही दीर्घ उसकी आयु होगी। प्रत्यक्षमें भी हम देखते हैं कि सूक्ष्म जीवोंकी आयु बहुत अल्पकालकी होती है। जन्मके थोड़े ही समय पश्चात् उनका शरीर अपने उत्कृष्ट परिणामको पहुंच जाता है और वे मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं। ज्यों ज्यों प्राणीका शरीर बढ़ता जाता है उसकी आयु भी उसीके अनुसार बढ़ती जाती है। हाथी सब जीवोंमें बड़ा है इससे उसकी आयु भी सब जीवोंसे बड़ी है। वनस्पतियोंमें भी यही नियम है। जो वृक्ष जितना अधिक विशालकाय होता है उतने ही अधिक समय तक वह फूलता फलता है। वट-वृक्ष सब वनस्पतियोंमें भारी होता है, अतएव उसका अस्तित्व भी अन्य सब वृक्षोंकी अपेक्षा अधिक काल तक रहता है। अतः यह प्रकृतिके नियमानुकूल व मानवीय ज्ञान और अनुभवके अविरुद्ध ही है जो जैन पुराण यह प्रतिपादित करते हैं कि प्राचीनकालके अति-दीर्घकाय पुरुषोंकी आयु अति दीर्घ हुआ करती थी। इसके विरुद्ध यदि जैन पुराण यह कहते कि प्राचीन कालके मनुष्य दीर्घ काय होते हुए अल्पायु हुआ करते थे, या अल्प-काय होते हुए दीर्घायु हुआ करते थे तो यह प्रकृति-विरुद्ध और अनुभव-प्रतिकूल बात होनेके कारण अविश्वसनीय कही जासकती थी।

भोगभूमि और कर्मभूमि।

तीसरा शंकास्पद विषय भोगभूमि और कर्मभूमिके विपरिवर्तनका है। जैन पुराणोंमें कथन है कि पूर्वकालमें इसी क्षेत्रके निवासी सुखसे विना श्रमके काल-यापन करते थे। उनकी सब

प्रकारकी आवश्यकतायें कल्पवृक्षोंसे ही पूरी होजाया करती थीं। अच्छे और बुरेका कोई भेद नहीं था। पुण्य और पाप दोनों भिन्न प्रवृत्तियां नहीं थीं। व्यक्तिगत संम्पत्तिका कोई भाव नहीं था 'मेरा' और 'तेरा' ऐसा भेदभाव नहीं था। यह अवस्था भोगभूमिकी थी। क्रमशः यह अवस्था बदली। कल्पवृक्षोंका लोप होगया। मनुष्योंको अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये श्रम करना पड़ा। व्यक्तिगत सम्पत्तिका भाव जागृत हुआ। कृषि आदि उद्यम प्रारम्भ हुए। लेखन आदि कलाओंका प्रादुर्भाव हुआ, इत्यादि। इस प्रकार कर्मभूमिका प्रारम्भ हुआ। शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इस भोगभूमिके परिवर्तनमें कोई अस्वाभाविकता नहीं है। बल्कि यह आधुनिक सभ्यताका अच्छा प्रारम्भिक इतिहास है। जिन्होंने सुवर्णकाल (Golden age) के प्राकृतिक जीवन (Life according to Nature) का कुछ वर्णन पढा होगा वे समझ सकते हैं कि उक्त कथनका क्या तात्पर्य हो सकता है। आधुनिक सभ्यताके प्रारम्भ कालमें मनुष्य अपनी सब आवश्यकताओंको स्वच्छन्द वनजात वृक्षोंकी उपजसे ही पूर्ण कर लिया करते थे। वस्त्रोंके स्थानमें वल्कल और भोजनके लिये फलादिसे तृप्त रहनेवाले प्राणियोंको धन–सम्पतिसे क्या तात्पर्य? सबमें समानताका व्यवहार था। मेरे और तेरेका भेदभाव नहीं था। क्रमशः आधुनिक सभ्यताके आदि धुरंधरोंने नाना प्रकारके उद्यम और कलाओंका आविष्कार कर मनुष्योंको सिखाया। जैन पुराणोंके अनुसार इस सभ्यताका प्रचार चौदह कुलकरों द्वारा हुआ। सबसे पहले कुलकर प्रतिश्रुतिने सूर्य चन्द्रका ज्ञान

मनुष्योंको कराया। इस प्रकार वे ज्योतिष शास्त्रके आदि आविष्कर्ता ठहरते हैं। उनके पीछे सम्मति, क्षेमंधरादि हुए जिन्होंने ज्योतिष शास्त्रका ज्ञान बढाया, अन्य कलाओंका आविष्कार किया व सामाजिक नियम दण्ड-विधानादि नियत किये। जैन पुराणोंने इस इतिहासको, यदि विचार किया जाय तो, सचमुच बहुत अच्छे प्रकारसे सुरक्षित रक्खा है।

धर्मके संस्थापक।

कुलकरोंके पश्चात् ऋषभदेव हुए जिन्होंने धर्मकी संस्थापना की। इनका स्थान जैसा जैन पुराणोंमें है वैसा हिन्दू पुराणोंमें भी पाया जाता है। वहां भी वे इस सृष्टिके आदिमें स्वयंभू मनुसे पांचवी पीढीमें हुए बतलाये गये हैं, और वे ईशके अवतार गिने जाते हैं। उनके द्वारा धर्मका जैसा प्रचार हुआ उसका भी वहां वर्णन है। जैन पुराणोंमें कहा गया है कि ऋषभदेवने अपनी ज्येष्ठ पुत्री 'ब्राह्मी' के लिए लेखनकलाका आविष्कार किया। उन्हींके नामपरसे इस आविष्कृत लिपिका नाम 'ब्राह्मी लिपि' पड़ा। इतिहासज्ञ ब्राह्मी लिपिके नामसे भलीभांति परिचित हैं। आधुनिक नागरी लिपिका यही प्राचीन नाम है। ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्रका नाम भरत था जो आदि चक्रवर्ती हुए। भरत चक्रवर्तीका नाम हिन्दू पुराणोंमें भी पाया जाता है, यद्यपि उनके वंशका वर्णन वहां कुछ भिन्न है। इन्हीं भरतके नामसे यह क्षेत्र भारतवर्ष कहलाया।

हिन्दू पुराणोंमें ऋषभदेवके पश्चात् होनेवाले तीर्थंकरोंका उल्लेख अभीतक नहीं पाया गया, पर जैन ग्रँथोंमें उन सब पुरुषों का चरित्र वर्णित है जिन्होंने समय समय पर ऋषभदेव द्वार

स्थापित धर्मका पुनरुद्धार किया। ज्यों ज्यों हम ऐतिहासिक कालके समीप आते जाते हैं त्यों त्यों जैनधर्मके उद्धारकोंका परिचय अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध होने लगता है। बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथके विषयकी अनेक घटनाओंका समर्थन हिंदू पुराणोंसे होता है। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ तो अब ऐतिहासिक व्यक्ति माने ही जाने लगे है। इनके जीवनके सम्बन्धमें नागवंशी राजाओंका उल्लेख आता है। इस वंशके विषयपर ऐतिहासिक प्रकाश पड़ना प्रारम्भ हुआ है। चौबीसवें तीर्थंकर महावीरका समय तो जैन इतिहासकी कुंजी ही है। वैज्ञानिक इतिहासने धीरे धीरे महावीरकी ऐतिहासिकता स्वीकार करके क्रमसे पार्श्वनाथ तक जैन धर्मकी शृंखला ला जोड़ी है। आश्चर्य नहीं, इसी प्रकार वैज्ञानिक शोधसे धीरे धीरे अन्य तीर्थंकरोंके समयोंपर भी प्रकाश पड़े।

जैन भूगोल

भारतवर्षका जो भूगोल-सम्बन्धी परिचय जैन पुराणोंमें दिया है वह भी स्थूल रूपसे आजकलके ज्ञानके अनुकूल ही है। भरतक्षेत्र हिमवत् पर्वतसे दाक्षिणकी ओर स्थित है। इसकी दो मुख्य नदियां हैं। गंगा और सिंधु। वे दोनो नदियां हिमवत् पर्वत परके एक ही 'पद्म' नाम सरोवरसे निकलती हैं। गंगा पूर्वकी ओर बहती हुई पूर्वीय समुद्रमें गिरती है और सिन्धु पश्चिमकी ओर बहती हुई पश्चिम समुद्रमें गिरती है। कुलकरों और तीर्थंकरोंका जन्म गंगा और सिन्धुके बीचके प्रदेशोंमें ही हुआ था। यह वर्णन किसी प्रकार गलत नही कहा जासकता।

हमारा इतिहास

इतिहास साहित्यका एक बड़ा महत्वपूर्ण अंग है, और देश व जाति का जीवन-रस है। जिस साहित्य में इतिहास नहीं, वह साहित्य अपूर्ण है। जो जाति अपना इतिहास नही जानती उसके जीवनमें चैतन्य, स्फूर्ति, स्वाभिमान और आशा का अभाव सा रहेगा। जबतक हम अपनी सभ्यता और शिष्टता के विकास-क्रम से अनभिज्ञ हैं, तबतक हम उसमें वास्तविक उन्नति नही कर सकते। इसलिये यह अत्यंत आवश्यक है कि हम अपने साहित्य में इतिहास के अंगको खूब पुष्ट करें और तत्संबन्धी त्रुटियों और प्रचलित भ्रमात्मक धारणाओं को दूर करने की ओर सदैव ध्यान देते रहें।

सभ्यता के जितने अंग हैं उन सबका इतिहास हमारे साहित्य में होना नितान्त आवश्यक है। सभ्यता के मुख्य अंग हैं समाज और राजनीति, धर्म और सदाचार तथा विज्ञान और भाषा। इन सभी विषयोंपर विद्वान् लेखकोंद्वारा हिन्दी में अबतक बहुत कुछ साहित्य तैयार हो चुका है। रायबहादुर गौरीशंकरजी ओझाने पहले ही पहल बड़े परिश्रम और खोजसे 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' प्रस्तुत करके शिलालेखों व ताम्रपटों आदि के पढ़े जानेका मार्ग सुलभ बना दिया। उनका यह ग्रंथ डा. बुलर की Indian Palaeography से भी पूर्व बन चुका था। ओझाजी अभी जो राजपुतानेका इतिहास लिख रहे

हैं और जिसके तीन खंड अबतक निकल चुके हैं वह हिन्दी में भारत के इतिहास में गौरवकी चीज है। श्रीयुत काशीप्रसाद्जी जायसवाल का जो Hindu Polity नामक ग्रंथ इतिहास संसारमें यशस्वी हुआ है उसका विषय प्रथमतः विद्वान् लेखक द्वारा हिन्दीमें ही भागलपुरमें हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के चतुर्थ अधिवेशन पर एक निबन्ध के रूपमें प्रस्तुत हुआ था। जायसवालजीकी ऐतिहासिक सेवायें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, यद्यपि अपनी खोजों को जगद्व्यापी बनाने के हेतु उन्होंने विशेषतः अंग्रेजी में ही अपने ग्रंथ रचे हैं। पं. चन्द्रधर गुलेरी ने पुरानी हिन्दी के विषयपर जो लेख नागरी प्रचारिणी पत्रिका में लिखे थे वे हिन्दी भाषाके इतिहास के लिये बड़ेही महत्वपूर्ण सिद्ध हुए, और उनके लिये उस पत्रिका का आदर युरोपीय विद्वानोंमें भी विशेष रूपसे हुआ। इस दिशामें गुलेरीजीने जो कार्य प्रारम्भ किया था, शोक है, वे उसे अपनी असामयिक मृत्युके कारण पूरा न कर पाये। स्वर्गीय रायबहादुर डा. हीरालालजीने भारतीय पुरातत्व में जो कार्य किया उसमें यहांपर उल्लेखनीय उनके वे गजैटियर हैं जिनमें उन्होंने मध्यप्रदेश के एक एक जिले का सर्वांगपूर्ण इतिहास संग्रह किया है। ये गजैटियर उन्होंने सरल लोकप्रिय शैलीमें लिखे हैं। वर्तमान में महापंडित त्रिपिटकाचार्य श्री राहुल सांकृत्यायनजी तिब्बत और भारतके सम्बन्धीय इतिहास के एक बड़े भारी विद्वान् हैं। उनका जो 'तिब्बत में सवा वर्ष' नामक ग्रंथ अभी अभी प्रकाशित हुआ है उसका विद्वत्संसार में अच्छा आदर हो रहा है। वह अब अंग्रेजी में भी अनुवादित हो रहा है। बौद्ध-

धर्म के सिद्धों और संतोंके साहित्य और इतिहास का राहुलजी जो उद्धार कर रहे हैं वहभी उल्लेखनीय है। इस इतिहास परिषद् के मनोनीत सभापति श्री जयचंद्रजी विद्यालंकार अपनी अनुपम गवेषणाओंद्वारा भारतीय इतिहास की सम्पत्तिमें असाधारण वृद्धि कर रहे हैं। आपके अभीतक जो 'भारतभूमि और उसके निवासी' तथा 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' नामक दो ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं उनसे भारतका इतिहास एक तरह से बहुत ही सजीव हो उठा है। आप भारतीय इतिहासकी अनेक उलझनों और गुत्थिओंको बहुत ही उत्तमता से सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस समय आपका 'भारतीय इतिहास का दिग्दर्शन' तैयार हो रहा है।

यह जो इतिहास-सम्बन्धी कार्य हिन्दी भाषामें अबतक हुआ है और हो रहा है उसका हमें गर्व है। किन्तु अभी भी इस साहित्य को बढानेका विपुल क्षेत्र हमारे सामने पड़ा है। देश के ज्ञान-विज्ञान व कला-कौशल सम्बंधी इतिहास हिन्दी साहित्य में अभीतक बहुत ही कम है। भाषा सम्बंधी इतिहास की खोज वस्तुतः अभी प्रारम्भ ही हुई है। कितने ग्रंथ हिन्दी में ऐसे हैं जिनमें देशका धार्मिक इतिहास सुन्दरता और प्रामाणिकता से वर्णन किया गया हो? स्कूली किताबोंको छोड़कर हिन्दी में सामाजिक व राजनैतिक इतिहासका यथार्थ परिचय करानेवाले ग्रंथ इने गिने ही हैं। इन सब विषयोंका इतिहास प्रारम्भ में एक एक कालका, शताब्दि या अर्धशताब्दि का, एक एक प्रदेश का, अलग अलग, लिखा जाना और फिर उनका सामञ्जस्य बैठाना आवश्यक है। जिस तरह महाराष्ट्रमें ऐति-

हासिक कागज-पत्र, बखरें आदि संग्रह करके प्रकाशित की गई हैं, हिन्दी भाषी प्रान्तों में वैसा कोई उद्योग अभीतक नहीं हुआ है। बुन्देलखण्ड, मालवा और राजपुताना की देशी रियासतों में इस तरह की प्रचुर सामग्री राजकीय पुस्तकालयों में पड़ी है, जो मध्यकालीन इतिहास के लिये अत्यन्त उपयोगी हो सकती है। अनेक देशी राज्यों, जैसे उदयपुर आदि, में पुरातत्त्व विभागका संगठन न होनेसे वहां के महत्वपूर्ण इतिहासोपयोगी प्राचीन स्मारक विध्वंस हो रहे हैं। इसी मध्यप्रदेश में अनेक छोटी मोटी रियासतें और जागीरें हैं जिनका इतिहास यद्यपि कुछ कुछ अंग्रेजी गजैटियरों में संकालित किया गया है, पर सजीव और लोकप्रिय रीतिसे हिन्दी में बहुत ही कम लिखा गया है। हमें ऐसी लोक-रुचि ऐतिहासिक बातों में उत्पन्न करने की आवश्यकता है कि जिससे जहां कहीं भी कोई छोटे मोटे ऐतिहासिक स्मारक पाये जावें उनका विध्वंस न होकर रक्षण हो सके! यदि ध्यान दिया जावे तो लोक कथाओं में, ग्राम्य गीतों में, पुरानी चिट्ठी पत्रियों में व ग्रंथ-प्रशस्तियों में न जाने कितनी ऐतिहासिक सामग्री बिखरी हुई मिल सकती है। जैनियोंके प्राचीन ग्रंथ-भंडारों में इस तरहकी बहुत सामग्री पाई जाती है। गुजरात में इस दिशा में बहुत कुछ कार्य हुआ है।

देशी और विदेशी विद्वानोंद्वारा भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में जो कुछ खोजें होती हैं वे प्रायः अंग्रेजी पाठकों को ही सुलभ होती हैं। आवश्यकता है कि उन सब खोजों का हिन्दी पाठकों को भी परिचय कराया जाय। अंग्रेजी में जो इतिहास के साधन, शिलालेख, ताम्रपत्रादि प्रकाशित हुए हैं वे भी संग्रह

करके हिन्दी में प्रकाशित किये जाना चाहिये। अंग्रेजी में यह सामग्री बहुतही मंहगी है जिसे साधारण लोग खरीद नही सकते। हिन्दी में हो जाने से अंग्रेजी के पाठक भी इस सस्ताई के कारण खरीदना चाहेंगे।

अभीतक हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहास लिखे जा चुके हैं, किन्तु उनका वह भाग अभीतक भी बहुत त्रुटिपूर्ण है जो हिन्दी की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके विद्वान् लेखकों का ध्यान अपभ्रंश साहित्य की ओर नही गया है जो कि प्राचीन पुस्तक–भंडारों में बहुत बडी तादाद में पडा है और पिछले दसबारह वर्षों में जिसके एक दर्जन से भी अधिक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। वर्तमान प्रांतीय भाषाओंका मूल इसी अपभ्रंश साहित्य में मिल सकता है, और इसलिये उसका गहराई के साथ अध्ययन किये विना न तो हिंदी साहित्य का प्रारम्भिक इतिहास लिखा जा सकता है और न उसका क्रमिक विकास ही बतलाया जा सकता है। इस विषयपर अधिकारपूर्ण लेखनी वे ही उठा सकते हैं जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा प्रचलित देशी भाषाओंका यथेष्ट ज्ञान रखते हों।

इस अपभ्रंश भाषा के अनेक ग्रंथों में प्राचीन राजकीय इतिहास की भी बहुतसी वार्ता मिल जाती है। एक नागकुमार चरित (णायकुमार–चरिउ) नामक अपभ्रंश काव्य के परिशीलन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि 'नाग' केवल किस्से कहानी का शब्द नही, किन्तु एक जीती जागती मनुष्य जाति का नाम था। यह जाति एक समय भारत वर्षके प्रायः सभी भागों में बिखरी हुई थी और राजकीय सत्ता रखती थी। उनकी एक अलग सभ्यता और शिष्टता थी जो अपने ढंग की

चढी बढी और निराली थी, तथा जो आर्य लोगों को प्रारम्भ में कुछ विलक्षण सी जँचती थी। पर धीरे धीरे आर्य लोग उनसे मिलने जुलने लगे और उनकी कन्याओं को भी विवाहने लगे। ये कन्यायें बड़ी सुन्दर और शिष्ट समझी जाती थीं। नागों का एक उन्नति-शील और राजकीय सत्ता रखनेवाला दल एक समय उस स्थान पर भी प्रतिष्ठित था जहां हम और आप आज उनका ऐतिहासिक विवेचन करने के लिये सम्मिलित हुए हैं। यह बात अन्य प्रमाणों के अतिरिक्त 'नागपुर' नाम और उसके आसपास की भूमि में अबतक गूंज रही है। नागपुर के पास ही रामटेक पर शायद नागों की वह राजधानी रही है जो पुराणों में पाताल लोक की राजधानी भोगवती के नाम से प्रसिद्ध है। यहीं पर कदाचित् नागों का एक बड़ा भारी विद्या का केन्द्र था जिसे हम यदि नाग यूनीवर्सिटी कहें तो अनुचित न होगा। वहां कैसी कैसी कलायें सिखाई जाती थीं उनका नागकुमार-चरित में उल्लेख है। वहां उक्त काव्य के नायक नागकुमार के समान दूसरे दूसरे प्रदेशों से विद्यार्थी विद्योपार्जन के लिये आते थे। नागों का ध्वज-चिन्ह सर्प था जिससे 'नाग' सर्प का पर्यायवाची शब्द बन गया। इस इतिहास की दृष्टि से यह बहुत ही उपयुक्त जँचता है कि नागों के विद्याकेंद्र के स्थानापन्न नागपुर विश्व-विद्यालय ने भी सर्प को अपना विशेष चिन्ह स्वीकार किया है। दूसरे अपभ्रंश व इतर काव्यों व शिलालेखों से यह भी सिद्ध होता है कि इस नाग राज्य की सीमा से लगे हुए विद्याधर व असुर वंशों के राज्य भी थे, इत्यादि। इस प्रकार इस अपभ्रंश साहित्य के परिशीलन और अध्ययन से हिन्दी भाषा और देशीय इतिहास दोनों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

प्राचीन इतिहास निर्माण के साधन

इतिहास निर्माणकी आवश्यकता।

जिस समय योरप के लोगों का भारतवर्ष में बहुत दौरदौरा नहीं हुआ था, तब एक दिन कुछ ग्रामीण लोगों ने एक अंग्रेजी टोप देखा। उसे देखकर वे बड़े अचम्भे में पड़े। किसीने कहा, यह अनाज नापनेका कोई नया कुड़ा है; दूसरे ने कहा कोई बाबाजी का भीख माँगने का खप्पर है, तो तीसरा बोल उठा नहीं, यह किसी बड़े कुप्पे का ढक्कन है। इस प्रकार उन्होने तरह तरह की बातें उस टोप के विषय में सोचीं, पर यथार्थ बात वे न जान सके। किन्तु किसी और दिन, जब उन्होंने एक अंग्रेज साहब को वैसा ही टोप लगाये देखा, तब उनका भ्रम दूर हुआ और टोप का ठीक मतलब उनकी समझ में आया।

बात यह है कि किसी भी वस्तु को उसके समुचित स्थान और सम्बंध में देखे बिना उसका यथोचित स्वरूप समझ लेना यदि असम्भव नहीं, तो दुस्सम्भव अवश्य है। मनुष्य के वर्तमान का भूतकाल से इतना घनिष्ठ सम्बंध है कि उसके भूतकाल का यथोचित ज्ञान हुए बिना उसकी वर्तमान अवस्था का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता, और न वर्तमान से पृथक् उसका भूतकाल ही अच्छी तरह समझ में आ सकता हैं। असीरिया की अति प्राचीन उन्नत सभ्यता के बहुतसे प्रमाण मिलते है, पर बीच ही में किसी समय उसके लुप्त हो जाने से आज उसकी

सभ्यता का पूरा इतिहास नहीं लिखा जा सकता। रोम और ग्रीस (यूनान) की प्राचीन सभ्यता का पूरा चित्र-पट खींचना भी इसी कारण बहुत कठिन हुआ है, क्योंकि उसका भी सिलसिला आज से बहुत पहिले टूट गया है। किन्तु भारतवर्ष की आर्यजाति का हाल दूसरा ही है। यहां के वर्तमान रीति-रिवाज, रहन-सहन, धर्म, कर्म, ज्ञान, कला-कौशल, नीति इत्यादि प्रतिदिन के कार्यों पर प्राचीनता की ऐसी छाप लगी हुई है कि भूतकाल से पृथक् वर्तमान भारत का कोई मतलब ही नहीं होता। अभी तक भारत का शृङ्खलाबद्ध इतिहास तैयार किये बिना देश की अवस्था को समझने का जो प्रयत्न किया गया है, उसका वही फल हुआ है, जो ऊपर कही हुई कहानी से दर्शाया गया है।

इतिहास-निर्माण की अभिरुचि।

जब अठारहवीं शताब्दि के मध्य-भाग में कुछ पाश्चात्य विद्वानों को भारत का इतिहास तैयार करने की रुचि हुई, तब उन्हें मुसलमानी काल के पूर्व की कोई भी घटना, कोई स्मारक, कोई ग्रंथ व कोई ऐतिहासिक व्यक्ति ऐसा नहीं मिलता था जिसका कि समय सन्देहास्पद न हो। अतएव लोगों की यह धारणा हो गयी कि भारतीयों का, मुसलमानी समय से पूर्व का, कोई इतिहास ही नहीं है; मानो आर्य-सभ्यता का श्रीगणेश बारहवीं शताब्दि में ही हुआ हो। यह भूल बहुत समय तक बनी रही। इसका कारण एक तो यहां के पण्डितों की इतिहास की ओर उदासीनता थी, और दूसरा योरप के लोगों का यहाँ

के साहित्य से अपरिचय। इस समय तक भारत के विद्वानों को देश के इतिहास का महत्व विदित नहीं हुआ था। इस कारण उनका ध्यान इतिहास की खोज की ओर नहीं गया था। अंग्रेज़ों का संस्कृत से अपरिचित होना स्वाभाविक ही था। कई योरपियन तो यहाँ तक भ्रम में थे कि वे संस्कृत-साहित्य को ब्राह्मणों की केवल जालसाज़ी-मात्र ही समझ बैठे थे।

इतिहास-निर्माण का प्रारम्भिक इतिहास।

संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता पहिलेपहिल "ईस्ट इण्डिया कम्पनी" के कर्मचारियों को सन् १७७५ ईसवी में जान पड़ी। अदालतों के सुभीते के लिए उस समय के गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग्ज़ ने यहां के पण्डितों से स्मृतियों व अन्य धर्मशास्त्रों के आधार पर एक न्याय-कोष (क़ानून का ग्रन्थ) तैयार कराया, जो स्वभावतः संस्कृत में तैयार हुआ। अब प्रश्न यह उठा कि अंग्रेज न्यायाधीशों के समझने के लिए इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद कैसे हो। अन्त में, जब संस्कृत से अंग्रेज़ी में अनुवाद कर सकनेवाला कोई विद्वान् न मिल सका, तब वह पुस्तक फ़ारसी में अनुवादित करायी गयी और उसपर से एक अंग्रेजी प्रति तैयार हुई। अनुभवी अंग्रेज़ों के हृदय पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा और उसी समय से बहुतेरे विद्वानों का ध्यान संस्कृत की ओर आकर्षित हुआ।

सन् १७८४ ईसवी में कलकत्ता-हाईकोर्ट के न्यायाधीश सर विलियम जोन्स के प्रयत्न से एशिया के इतिहास, शिल्प,

साहित्य आदि की खोज और शोध के लिए कलकत्ते में "एशियाटिक सोसाइटी आव् बँगाल" नाम की समाज स्थापित हो गयी। इसके दो ही वर्ष के उपरान्त इन्हीं जोन्स महोदय ने इस बातकी घोषणा की कि संस्कृत की बहुतसी धातुएँ तथा शब्द-रूप ग्रीक, लैटिन, फारसी आदि भाषाओं के शब्दों से ठीक ठीक मिलते हैं; अतएव इससे विदित होता है कि इन सब भाषाओं की उत्पत्ति का मूल एक ही है। बस, यहीं से तुलनात्मक शब्द-विज्ञान-शास्त्र (Comparative Philology) का आरम्भ हुआ, जिससे सभी भाषाओं के प्राचीन इतिहासपर बहुत प्रकाश पड़ा है। इस चमत्कारिक खोज ने योरप और अमेरिका के प्रायः सभी देशों में संस्कृत अध्ययन की रुचि पैदा कर दी और पचास ही वर्षों के भीतर एक के बाद एक इँग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी, इटली, अमेरिका, जापान इत्यादि देशों में "बंगाल-समाज" के समान सभाएँ स्थापित हो गयीं। इन समाजों के उत्साह और आदर्श ने लोगोंमें बड़ी जागृति कर दी। बड़े बड़े अनुसन्धानकर्ता दत्तचित्त होकर प्राचीन इतिहास की सामग्री इकट्ठी करने में लग गये, जिसका फल यह हुआ है कि प्राचीन भारत की ऐतिहासिक तिमिर-राशि धीरे धीरे बहुत कुछ नष्ट हो गयी है और होती जाती है।

इतिहासातीत-काल।

सब देशों में प्राचीन से प्राचीन काल की मानवीय सभ्यता के जो स्मारक मिले हैं, उनसे पुरातत्व-विशारदों ने निश्चित किया है कि मानुषी सभ्यता का विकास-क्रम भिन्न भिन्न काल

में बहुतायत से उपयोग में लायी गयी धातुओं के समझने से बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। उनका मत है कि सबसे प्रथम मनुष्य अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ, जैसे, औद्योगिक औजार, लड़ाई के हथियार, घड़े इत्यादि, पत्थरों की बनाया करते थे। इस काल को वे पाषाणकाल (Stone Age) कहते है। धीरे धीरे ये ही पत्थर की वस्तुएँ सुडौल और चिकनी बनायी जाने लगीं। क्रमशः मनुष्य ने काँसा धातु का और फिर आगे चलकर लोहे का उपयोग सीखा। ये दोनो काल क्रम से काँसा-काल (Bronze Age) और अयस्काल व लोह-काल (Iron Age) कहलाते हैं। इसी अयस्काल से मनुष्य की चमत्कारिक सभ्यता का इतिहास प्रारम्भ होता है।

योरप, मिसर और पश्चिमी एशिया के कुछ देशों में तो इन तीनों कालों के चिन्ह मिले हैं, किन्तु भारतवर्ष में काँसे की कोई प्राचीन वस्तुएँ नहीं मिलीं। इसीसे माना जाता है कि भारतवर्ष में काँसा-काल आया ही नहीं। काँसे के स्थान में यहाँ तांबे के उपयोग के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि यहाँ पाषाण के पश्चात् ताँबा काम में लाया जाने लगा। यही भारत का ताम्र-काल है। उसके बाद लोहे का उपयोग बढ़ा। सबसे पहिले यहाँ सन् १८६१ ईसवी में मि० ले० मसुरियर ने कोई वस्तु पाषाण-काल की खोज निकाली थी। इसके पश्चात् धीरे धीरे दक्षिण के प्रान्तों में बहुतेरी चीज़ें ऐसी मिली हैं, जिन्हें पुरातत्वज्ञ पाषाण-काल और लोह-काल की अनुमान करते हैं। सन् १८७० ईसवी में ताँबे के ४२४ हथियार और औज़ारों की एक पेटी मध्यभारत के गंगेरिया नामक स्थान

से प्राप्त हुईं, जिसमें की बहुतसी चीज़े अब इंग्लैण्ड के अजायबघर में हैं।

इन सब प्राचीन काल के स्मारकों के आधार पर उन इतिहासातीत-काल के मनुष्यों के रहन-सहन तथा दिनचर्या का थोड़ा बहुत अनुमान किया जाता है। किन्तु यह अनुमान कभी भी सन्देहरहित नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रथम तो यही निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता कि ये वस्तुएँ यथार्थ में मनुष्य के ही हाथ की बनी हुई हैं। प्रकृति के जल-प्रवाह, पवन, अग्नि इत्यादि विलक्षण बलों से भी ऐसी वस्तुओं का स्वयम् बन जाना सम्भव है। दूसरे यदि यही मान लिया जाय कि ये सचमुच मनुष्य-कृत हैं, तो यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि ये वस्तुएँ उतनी ही पुरानी हैं, जितनी कि वे अनुमानित की जाती हैं। बहुतसी जंगली जातियाँ आज भी ऐसी विद्यमान हैं, जो अब तक उसी पाषाण-काल में रह रहीं हैं। तीसरे, इसका भी पूर्णतया विश्वास नहीं होता कि ये वस्तुएँ जैसा हम सोचते हैं, वैसे ही कार्यों में लायी जाती होंगी। हम और हमारे उन अति-दूर-काल-वर्ती पूर्वजों में बहुत भेद है। सम्भव है, उन वस्तुओं का कुछ और ही मतलब रहा हो, जो अब तक हमारी कल्पना-शक्ति के सर्वथा परे है। जो हो, पर हमारे प्राचीन काल की वस्तुओं का और भी सूक्ष्म रूप से अध्ययन करना बहुत आवश्यक है।

वेद।

जिस स्थिति का ऊपर वर्णन किया गया है, उसके विषय

में अभी तक निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि आज से कितने वर्ष पूर्व मनुष्य-समाज इस अवस्था में था। इस विषयपर विद्वानों में भारी मत-भेद है। कोई इसे तीन लाख वर्ष पहिले की मानवीय सभ्यता बतलाते हैं, तो कोई उसे तीन हज़ार वर्ष पूर्व की प्रमाणित करते हैं। पर ठीक यह जान पड़ता है कि भिन्न भिन्न देशों में यह सभ्यता भिन्न भिन्न समय में प्रचलित थी। दूसरे देशों में इस सभ्यता के आगे का इतिहास-क्रम समझने के लिए कोई उपयुक्त साधन नहीं है, पर भारतवर्ष के विषय में यह कमी कुछ अंश में पूरी हो जाती है। निर्विवाद रूप से आज यह बात सबने मान ली है कि संसार भर के साहित्यों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद ही हैं और उनमें भी ऋग्वेद सबसे पुराना है। यद्यपि इन वेदों के रचना-काल के विषय में भी विद्वान् एक-मत नहीं है, तथापि ऋग्वेद में जो 'अयस्' शब्द आया है, उसे कुछ विद्वान् ताँबे के अर्थ में लेते हैं, तथा यजुर्वेद और अथर्ववेद में आये हुए 'श्याम अयस्' का 'लोहा' अर्थ निकालते हैं, तथा इस पर से अनुमान करते हैं कि ये ग्रन्थ क्रमशः ताम्र और लोह-काल में रचे गये हैं। दक्षिणभारत में काँसा व ताम्रकाल के कोई चिन्ह नहीं मिलते। इसपर से अनुमान किया जाता है कि जिस समय उत्तर के आर्य लोग लोहे का उपयोग करने लगे थे, उस समय तक दक्षिण के मूल-निवासी पाषाण-काल में ही थे, और उसी समय उन्होंने आर्योंसे लोहे का उपयोग सीखा।

यदि यथार्थ में हमारे वेद इन ताम्र और लोह-काल में रचे गये हों, तो हमें मानना पड़ेगा कि हमारे पूर्वजों ने उस समय भी

बहुत कुछ सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक उन्नति कर ली थी।

वैदिककाल में आर्यों का कर्म-क्षेत्र सप्त-सिंधु देश, पंजाब और पश्चिमोत्तर भारत, था। सूर्य, मेघ, आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी आदि सभी प्राकृतिक लाभकारी शक्तियों को वे देवता-रूप से मानते और पूजते थे, तथा उनकी परोपकारिता से आह्लादित हो उनका गुणगान किया करते थे। गाय-घोड़ों का पालन तथा कृषिवाणिज्य उनके जीवन-निर्वाह के साधन थे। स्त्रियाँ आजकलकी तरह सर्वथा परतन्त्र नही थीं। अपने स्वामियों के धर्म-कर्म के सभी कार्यों में वे योग देती थीं। वेदों की कुछ ऋचाएँ भी स्त्रियों की बनाई हुई हैं।

उस समय कोई वर्ण-भेद नही था; किन्तु अन्त अन्त में वर्ण-भेद का सूत्रपात होता दृष्टि पड़ता है। आर्य लोग धीरे धीरे यहाँ की भूमि को यहाँ के मूल-निवासियों से जीत जीत-कर उसे अपने अधिकार में लाते जाते थे। इन्हीं काले दस्युओं को वे अपने दास बना लेते थे, और उन्ही से अपनेको पृथक् बताने के लिए उन्होंने पहिले पहिले 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया। समय पाकर आवश्यकतानुसार वर्ण-प्रभेद स्वयं आर्यजाति में भी होगया। ऋग्वेद के अन्तिम भाग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी उत्पत्ति आदि-पुरुष के पृथक् पृथक् अङ्गोंसे बतायी गयी है, पर वर्णभेदके विषय में विशेष कुछ नहीं पाया जाता। ऋग्वेद में पाँच जातियों का उल्लेख है, जो पंचजन कहलाती थीं। ये पाँच जातियाँ पाँच दल थे, जो अपना अपना राजा और समिति चुनकर उनके

आधिपत्य में रहते थे। ये पंचजन कभी कभी आपसमें भी लड़ते थे। राजा युद्ध में उनके नायक और शान्ति में रक्षक का काम करता था।

ब्राह्मण-ग्रन्थ और उपनिषद्।

ये ग्रन्थ ईसवी सन् से पूर्व छठवीं शताब्दि से पहिले रचे गये। ब्राह्मण ग्रन्थों में आर्य-क्षेत्र पूर्व की ओर बढ़ता हुआ पाया जाता है। जिन गङ्गा, यमुना आदि नदियों का वेदों में पता नहीं है, वे ब्राह्मण ग्रंथों में बड़ी पवित्र, देवता-रूप मानी गयी हैं। शतपथ, ऐतरेय आदि ब्राह्मणों में आर्यों का पूर्व की ओर बढ़नेका वर्णन पाया जाता है। बड़े बड़े यज्ञ, होम, जप, तप, संयम धर्म के आवश्यक अंग हो जाते हैं। वैदिकधर्म की स्वाभाविक सरलता और मधुरता क्रम से हीन पड़ती दिखायी देती है, और उसके स्थान पर अस्वाभाविक कर्म-काण्ड का प्रभाव जमता जाता है। दर्शनशास्त्र में भी विशेष उन्नति पायी जाती है। उपनिषदों के रचयिताओं को आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि तत्वों के विषय में बारम्बार शङ्काएँ उठती हैं और इसी तत्व-जिज्ञासा के फल-स्वरूप हमें उपनिषदों के रूप में कई उत्तम ग्रन्थ प्राप्त हैं, जिनमें इन गहन विषयों का खूब मथन किया गया है। इस विचार-आन्दोलन में क्षत्रियों ने विशेष भाग लिया। विदेह के राजा जनक का दरबार दार्शनिक वादविवाद के लिए प्रख्यात हो गया और वहीं अधिकांश उपनिषदों की रचना हुई। विचार-स्वातंत्र्य से धीरे धीरे षड्दर्शनों की उत्पत्ति हुई। इन सभी दर्शनों में ऐहिक कार्यों

और सुखों की निस्सारता दर्शायी गयी है और पारलौकिक कार्यों पर अधिक ज़ोर दिया गया है। इसका फल यह हुआ कि यहाँ का विद्वत्समाज प्रवृत्तिमार्ग की अपेक्षा निवृत्तिमार्ग की ओर अधिक झुक गया। यही कारण है कि हमारे पूर्वजों ने यद्यपि दर्शन, गणित, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण आदि शास्त्रों में खूब उन्नति की, किन्तु इतिहास की ओर उनका विशेष ध्यान नहीं गया। एक भी ग्रन्थ हमारे प्राचीन साहित्य में ऐसा नहीं है, जिसे हम सच्चा इतिहास कह सकें। सांसारिक कार्यों और घटनाओं का उल्लेख करने की अपेक्षा प्राचीन आर्य लोग धार्मिक बातों और हृदय की भावनाओं का कथन करना अधिक उपयोगी समझते थे। किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि हमारे प्राचीन साहित्य में ऐतिहासिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों से आर्यजाति की धार्मिक और सामाजिक उन्नति का जो परिचय मिलता है, वह ऊपर बतलाया जा चुका है।

रामायण और महाभारत।

फिर रामायण और महाभारत उस समय की दृष्टि से ऐतिहासिक ग्रन्थ ही हैं। इन ग्रन्थों में सन् ईसवी से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व की दो बड़ी भारी ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख है। रामायण में आर्य-सभ्यता की दक्षिण-विजय का और महाभारत में उत्तर भारत के एक बड़े युद्ध का वर्णन है। साथ ही साथ उस काल के राज्यों और उनके प्रबन्ध का अच्छा इतिहास इन ग्रन्थों से मिलता है।

गृह्य-सूत्र और धर्म-सूत्र ।

ईसवी सन् से पूर्व छठवीं से दूसरी शताब्दि तक लिखे गये सूत्र-ग्रन्थ सर्वथा धार्मिक होने पर भी उनसे बहुत कुछ सामाजिक और राजनीतिक इतिहास भी विदित होता है। गृह्य-सूत्रों में उस समय के आर्य-जनों की दिनचर्या तथा जन्म, विवाह, मृत्यु इत्यादि अवसरों पर के संस्कारों, कार्यों, रीति-रिवाज़ों आदि का विवरण है। गृह्य सूत्रों से कुछ पीछे रचे गये धर्म-सूत्रों में राजाओं की न्यायप्रणाली का भी वर्णन पाया जाता है, जिसमें किस प्रकार के अभियोग का कौन न्याय करेगा, किस किस बात पर कैसा साक्षी विश्वसनीय होगा इत्यादि विषयों पर भी विचार किया गया है। इनमें दाय-विभाग, कर-विधान व व्याज आदि के नियम भी दिये गये हैं।

स्मृति-शास्त्र ।

प्रायः धर्म-सूत्रों के आधार पर ईसवी सन् के प्रारम्भ के लगभग रचे गये वे अनेक स्मृति-शास्त्र हैं, जो आज भी हिन्दू समाज में, और कई बातों के लिए सरकारी न्यायालयों में भी, प्रमाण माने जाते हैं। इन स्मृतियों में मुख्य मनु, नारद, वशिष्ठ और याज्ञवल्क्य-स्मृतियाँ हैं। भारतीय राजनीति का विकास और उन्नति का इतिहास समझने के लिए ये ग्रन्थ बड़े महत्व के हैं।

जो इतिहास को केवल राजाओं और राजवंश, उनके साम्राज्य-विस्तार व युद्ध-संन्धि आदि, का क्रमवार ब्यौरा ही

समझते हैं, उन्हें इन ऊपर के ग्रन्थों में कोई ऐतिहासिक महत्व दिखायी नहीं देगा। पर देश का पूरा और सच्चा इतिहास वही है, जिसमें देश की धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक व आर्थिक अवस्था का सिलसिलेवार वर्णन पाया जावे। राज-घरानों का सन्-संवतों-सहित वर्णन इतिहास का एक अंग-मात्र है। इतिहास के दूसरे अंगों की पूर्ति के लिए ऊपर बताये हुए ढंग के ग्रंथों की छानबीन नितान्त आवश्यक है। देश का सच्चा गौरव इतिहास के इन दूसरे अंगों से ही विदित होता है।

पुराण।

ब्राह्मण साहित्य में प्राचीन इतिहास के लिए सबसे अधिक सामग्री हमें पुराणों, विशेषतः विष्णु, वायु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड, भागवत, मार्कण्डेय और भविष्यपुराण, से मिलती है। इनमें महाभारत काल से लगाकर गुप्त-काल तक के राजाओं की वंशावलियाँ और राज्य करनेकी अवाधि दी है, और मुख्य मुख्य घटनाओं का भी उल्लेख आया है। शिशुनागवंश (ई० सन् के पूर्व छठवीं शताब्दि) के पूर्व के इतिहास के लिए तो इनके कथन विशेष उपयोगी नहीं हैं, पर शिशुनाग-वंश से आगे के राजाओं का इतिहास बहुत कुछ विश्वसनीय है। बीच बीच में इनके कथनों का समर्थन दूसरे प्रमाणों, जैसे विदेशियों के वर्णन व शिलालेख इत्यादि से भी हो जाता है और इन्हीं प्रमाणों के प्रकाश में हमें पुराणों के कथनों में कुछ हेर फेर भी करने पड़ते हैं। पर पुराणों में कई ऐसी त्रुटियाँ पायी जाती हैं, जिनके

कारण, यदि दूसरे प्रमाण न होते तो, इतिहास में बड़ी गड़बड़ी मच जाती। प्रथम तो कई स्थानों में एक ही समय के राजवंशों को क्रमागत बतलाया है, जिससे उनका समय बहुत बढ़ गया है। उदाहरणार्थ, चन्द्रगुप्त मौर्य से लगाकर कैलकिल यवन नरेशों तक पुराणों के अनुसार २,५०० वर्ष का समय बीता। चन्द्रगुप्त का समय ईसवी सन् के पूर्व ३२० में मानने से कैल-किल यवनों का समय सन् २,२०० ईसवी में पड़ता है। पर यथार्थ में कैलकिल यवनों का राज्य ईसा की छठवीं शताब्दि के लगभग रहा है। दूसरे, कई बड़े बड़े राजवंशों का पुराणों में कोई स्पष्ट उल्लेख तक नहीं पाया जाता। कुशान-वंश के कनिष्कादि प्रतापी राजाओं का, व पश्चिम के शकवंशी राजाओं का पुराणों में कहीं पता नहीं है। तीसरे, इनमें कोई खास सन् संवत् नहीं दिया गया, जिससे समय-निर्णय में बड़ी कठिनाई पड़ती है। चौथे स्वयम् भिन्न भिन्न पुराणों के राजाओं के नाम व उनके राज्य-काल के विषय में विरोध पाया जाता है।

इन त्रुटियों के होते हुए भी पुराणों की ऐतिहासिक उपयोगिता कुछ कम नहीं है। जिस समय के लिए दूसरे कोई ऐतिहासिक साधन नहीं मिलते, अथवा जहाँ पर इनके कथनों का कोई प्रबल विरोधी प्रमाण नहीं पाया जाता, वहाँ सर्वथा पुराण ही प्रमाण हैं। प्रायः शिशुनागवंश से लगाकर मौर्य, शुंग, कण्व, आन्ध्र आदि वंशों की पूरी पूरी नामावलियां पुराणों ही से ली जाती हैं।

पुराणों के निर्माण-काल के सम्बंध में बहुत विद्वानों का मत यह है कि इनकी रचना गुप्त राजाओं के समय में (ईसवी

सन् ३०० से ७०० तक) हुई। इसका सबसे सबल प्रमाण यह दिया जाता है कि इनमें गुप्त राजाओं तक की वंशावलियाँ पायी जाती हैं। पर विचार करने पर यह विश्वास नहीं होता कि इनकी आद्यन्त रचना गुप्त-काल में हुई होगी। यदि ऐसा होता तो इससे कोई एक हजार वर्ष पूर्व तक के राजाओं की वंशावलियाँ उनमें कैसे दी जा सकतीं ? फिर, पुराण बहुत प्राचीन काल से एक कला मानी जाती रही है और कई प्राचीन ऋषियों के नाम इन पुराणों से सम्बंध रखते हैं। अतः ठीक यह विदित होता है कि पुराण मूलतः बहुत पहिले के रचे हुए हैं, पर समय समय पर उन्हें पूर्ण (Up-to-date) बनाने के लिए उनमें घटा-बढ़ी कर दी गयी है। यह भी सम्भव है कि गुप्त-वंशी राजाओं के वैष्णव होने से उनके समय में पुराणों में विशेष हेर-फेर किये गये हों और उन्हें वैष्णव-धर्म के ग्रन्थों का रूप दिया गया हो।

इन सब प्राचीन ग्रन्थों से ऐतिहासिक सामग्री इकट्ठी करने में ध्यान रखने-योग्य एक बात यह है कि कई ग्रन्थों में पीछे पीछे बहुतसे परिवर्तन और घटा-बढ़ी कर दी गयी है। 'महाभारत' यद्यपि बहुत प्राचीन काल की बनी हुई है, तथापि उसमें पश्चात् इतने हेर-फेर किये गये हैं कि अब मूल को घटा-बढ़ी से पृथक् करना असम्भव हो गया है। बहुतसी स्मृतिओं का भी यही हाल है। पुराणों के सम्बन्ध में हम देख ही चुके हैं। इस नये-पुराने के मेल से ये सब ग्रन्थ तत्तत्समय के लिए सम्पूर्ण (Up-to-date) तो अवश्य हो गये, पर इनका ऐतिहासिक महत्व इतना घट गया कि कोई भी बात केवल-

मात्र इनके सहारे ज़ोर देकर नहीं कही जा सकती। इनके कथनों को माननीय बनाने के लिए ऐसे दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता है, जो इनसे कम संदिग्ध हों और इनका समर्थन करें। ऐसे समर्थक प्रमाण हमें ईसा के पूर्व छठवीं शताब्दि से मिलने लगते हैं। इसीसे कहा जाता है कि भारत का ऐतिहासिक काल ईसवी सन् से पूर्व छठवीं शताब्दि से प्रारम्भ होता है।

बौद्ध-ग्रन्थ।

यहाँ तक केवल ब्राह्मणों के प्राचीनतम साहित्य की ऐतिहासिक उपयोगिता बतलायी गयी है। ईसा के पूर्व छठवीं शताब्दि के पहिले के इतिहास के लिए केवल-मात्र ये ही साधन हैं। ईसवी सन् के पूर्व छठवीं शताब्दि से बौद्ध और जैन-साहित्य से भी इतिहास की पूर्ति होने लगती है। इँग्लैंड में स्थापित 'पाली टेक्स्ट सोसाइटी' ने बौद्धों के प्रायः सभी पाली-ग्रन्थों का अच्छे प्रकार से सम्पादन किया है और इनकी छान-बीन भी बहुत कुछ हो चुकी है, जिससे कई ऐतिहासिक प्रश्नों के हल करने में सहायता मिली है। इनमें दिये हुए राजाओं के नाम और उनके राज्य-काल कहीं कहीं ब्राह्मण ग्रन्थों से भिन्न हैं, पर इस विरोधका परिहार उन राजाओं की राजधानी, वंश-क्रम आदि पर से हो जाता है। महात्मा बुद्ध के समय और उनके उपरान्त कोई तीन सौ वर्ष का भारतीय राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक इतिहास पाली के जातक ग्रन्थों से अच्छा विदित होता है। यह बात कई प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है कि ये ग्रन्थ ईसवी सन् के पूर्व दूसरी शताब्दि

से पहिले ही रचे गये थे और तब से इनमें परिवर्तन बहुत कम हुए है। इस कारण इनका महत्व अधिक बढ़ जाता है। ईसवी सन् की तीसरी व चौथी शताब्दि में लिखे गये 'दीपवंश' और 'महावंश' इतिहास के लिए बहुत उपयोगी हैं।

जैन-ग्रंथ।

जैनियों के प्राकृत-ग्रन्थों से भी इस समय का बहुत कुछ इतिहास मिलता है। शिशुनागवंशी राजा श्रेणिक (बिम्बसार) और उसका पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) महावीर स्वामी के सम-सामयिक थे। इसलिए इनका सविस्तर वर्णन प्राचीन जैन-ग्रन्थों में पाया जाता है।

बौद्ध और ब्राह्मण-ग्रन्थों के समान जैन-ग्रन्थों की अभी तक पूर्णरूप से छान-बीन नहीं हुई है। इस साहित्य की ओर विद्वानों का ध्यान अभी अभी आकर्षित हुआ है और वेवर व्हीलर, जैकोबी, हार्नले आदि विदेशी विद्वानों के प्रयास से जैन-ग्रन्थोंकी प्राचीनता और विश्वसनीयता सिद्ध हुई है। जैन-साहित्य अभी पूरा पूरा अच्छे रूप में प्रकाशित भी नहीं हुआ है। उसके प्रकाशित होने से आशा की जाती है कि भारत के प्राचीन इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ेगा। विक्रमादित्य और विक्रम-संवत् का, जिनके विषय में अभी भारी भ्रम, अनिश्चय और मत-भेद फैल रहा है, बहुत कुछ विशद हाल जैनियों के एक प्राचीन ग्रन्थ 'कालिकाचार्य-कथानक' से विदित होता है। उसमें इस मत की पुष्टि की गयी है, कि राजा विक्रम ने 'शकों' को हराकर विक्रम-संवत

चलाया। हूणवंशी मिहिरकुल का जैन-पुराणों के कल्किराज सिद्ध हो जाने से मिहिरकुल के समय-निर्णय में बहुत सहायता मिलती है।

काव्य-ग्रन्थ

आर्य-साहित्य में ऐतिहासिक सामग्री समय समय पर लिखे गये काव्य, नाटक, चम्पू आदि ग्रन्थों से भी मिलती है। सन् ११४९ ईसवी के लगभग लिखी गयी कल्हण पण्डित की राजतरंगिणी में पुराणों के अनुसार महाभारत-काल से लगाकर लेखक के समय तक का इतिहास संस्कृत-पद्य में दिया गया है। प्रारम्भ में कल्हण ने अपनेसे पहिले के बड़े बड़े इतिहास-लेखकों के नाम दिये हैं व उनके ग्रन्थों के गुण-दोष बतलाये हैं। इसके अनुसार सुवृत्त, क्षेमेन्द्र, नीलमुनि, हेलाराज, पद्ममिहिर और छविल्लाकर नामके मुनियों ने बड़े बड़े इतिहास लिखे थे, जिनमें से, जान पड़ता है, कुछ कल्हण कवि को उपलब्ध थे। पर अब इनके ग्रन्थों का पता नहीं चलता।

राजतरंगिणी के कथन छठवीं शताब्दि से लगाकर बारहवीं शताब्दि तक के लिए तो बहुत ठीक ज्ञात होते हैं, पर इसके पूर्व के इतिहास में यहाँ भी पुराणों जैसी गड़बड़ी पायी जाती है। इसके अनुसार सम्राट् अशोक ईसा के पूर्व बारहवीं शताब्दि में हुए। पर इस राजा का ईसवी सन् के पूर्व तीसरी शताब्दि में होना सिद्ध हो चुका है। इसी प्रकार मिहिरकुल के भारत-आक्रमण का समय ईसवी सन् के पूर्व छठवीं शताब्दि में बतलाया गया है, जो यथार्थ में इस समय से एक सहस्र

वर्ष बाद हुआ था। कई राजाओं के राज्यकाल इतने लम्बे बतलाये गये हैं कि उनपर किसी प्रकार भी विश्वास नहीं होता। अकेले राणादित्य प्रथम ने तीन शताब्दि तक (सन् २२२ से ५२२ तक) राज्य किया, यह कैसे माना जावे? पर इस सबके होते हुए भी राजतरंगिणी में काश्मीर का तीन चार शताब्दियों का बहुत अच्छा इतिहास मिलता है, जो सर्वथा विश्वसनीय और प्रामाणिक है। इसमें कल्हण कवि ने अच्छी ऐतिहासिक दूरदर्शिता, निष्पक्षता और योग्यता दिखलायी है।

ईसा की चौथी शताब्दि के लगभग लिखे गये विशाखदत्त कवि के 'मुद्राराक्षस' नाटक में नन्दवंश के पतन और चन्द्रगुप्त द्वारा चाणक्य मुनि की सहायता से मौर्यवंश के उत्थान का अच्छा खुलासा विवरण पाया जाता है। इस विवरण से ज्ञात होता है कि विशाखदत्त को मौर्य-काल के इतिहास जानने के कई साधन प्राप्त थे, जो अब हमें प्राप्त नहीं हैं।

कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक में शुंगवंश के प्रथम नरेश पुष्यमित्र के अश्वमेध-यज्ञ का उल्लेख आया है। इसी यज्ञ का उल्लेख पतञ्जलि के महाभाष्य में भी पाया जाता है, और जिस रूप में यह उल्लेख आया है, उससे अनुमान होता है कि स्वयम् पतञ्जलि ही उस यज्ञ के पुरोहित थे।

सातवीं शताब्दि के भारत-सम्राट् महाराज हर्षवर्धन के कार्यों का ब्यौरा उनके दरबारी कवि बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' नामक गद्य-काव्य में किया है। चालुक्यवंशी छठवें विक्रमादित्य का इतिहास विल्हण कवि के 'विक्रमांक-

देवचरित' में पाया जाता है। इस प्रकार के और भी कई चरित्र, प्रवन्ध व काव्य हैं, जिनमें बहुतसी इतिहासोपयोगी सामग्री बिखरी हुई है। इन्हीं काव्य-ग्रंथों व दशकुमारचरित आदि दूसरे ग्रन्थों से उनके रचे जाने के समय की सामाजिक व राजनीतिक अवस्था का अच्छा परिचय मिलता है।

इस सामग्री का उपयोग करने में कठिनाई यह है कि एक तो इसमें उल्लिखित घटनाओं के लिए कोई सन् संवत् नहीं दिया गया है। दूसरे, ये ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं, बल्कि काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से लिखे गये हैं। इस कारण प्रत्येक घटना के वर्णन में अतिशयोक्ति पायी जाती है। पर थोड़ा प्रयत्न करने से उनका ऐतिहासिक तथ्य जाना जा सकता है।

बहुतसे ग्रन्थों के केवल 'उपक्रम' और 'उपसंहार' वाक्यों से ही बहुत कुछ ऐतिहासिक बातें विदित हो जाती हैं। सोमदेव ने अपने 'यशस्तिलक' नामक चम्पू-काव्य के अन्त में लिखा है कि मैंने यह ग्रन्थ चालुक्यराज अरिकेसरी के पुत्र के राज्य-काल में शक-संवत् ८८१ में समाप्त किया। इसी प्रकार जल्हण कवि की 'सुभाषित-मुक्तावलि' और हेमाद्रि के कोश से इन कवियों के संरक्षक राजाओं के नामों और उनके समय का पता चलता है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री चाणक्य के बनाये हुए 'अर्थशास्त्र' का नाम तो बहुत समय से विदित था, पर इसका पता नहीं चलता था। कोई बारह वर्ष हुए तब यह ग्रन्थ मैसूर-राज्य के ग्रन्थ भाण्डार में से प्राप्त हुआ है। यह राजनीति और प्रवन्ध के

विषय का एक अद्वितीय ग्रन्थ है। महाराज चन्द्रगुप्त के समय की नीति-कुशलता, राज्य प्रबन्ध और समाज-संगठन का इस पुस्तक से बहुत अच्छा परिचय मिलता है।

विदेशियों की लेख—सामग्री

यहाँ तक आर्य—साहित्य की ऐतिहासिक उपयोगिता बतलायी गयी है। भारतीय इतिहास के निर्माण का दूसरा बहुमूल्य साधन विदेशियों की लेख—सामग्री है। जब से भारतवर्ष की अन्य देशों से राजनैतिक घनिष्ठता बढ़ी, तबसे विदेशी इतिहास लेखक भी भारतवर्ष के विषय में लिखने लगे। इनके लेखों से कई ऐसी ऐतिहासिक घटनाओं का पता चलता है, जिनका उल्लेख भारत के साहित्य में कहीं नहीं पाया जाता। ईरान के यूनानी इतिहास—लेखक हेरोडोटस के ग्रन्थ से पता चलता है कि सन्—ईसवी से लगभग ५१७ वर्ष पूर्व "दारियस" नामक ईरान के राजाने गांधार और पञ्जाब प्रान्त के पश्चिम भाग को जीतकर अपने राज्य में मिलाकर एक 'क्षत्रप' के आधीन कर दिया था। 'दारियस' के बहिस्तान के शिलालेख से भी इस बात की पुष्टि होती है, उससे यह भी विदित होता है कि इस नयी क्षत्रपी से ईरान के बादशाह को बहुत अच्छी आमदनी होती थी और यहाँ के सिपाही ईरानी फौज़ों में बहुत बड़ी संख्या में भरती किये जाते थे। सल्तनत भर में यह क्षत्रपी सबसे अधिक आवाद और धनवान मानी जाती थी।

पश्चिमोत्तर भारत में ईरानी असलदारी (आधिपत्य) सिकन्दर की चढ़ाई तक बराबर बनी रही। इस चढ़ाई का और

उस समय की पश्चिमोत्तर भारत की राजनैतिक और सामाजिक स्थिति का ज्ञान हमें टेसियस, प्लाइनी, स्ट्रैबो, मैगस्थनीज़ आदि यूनानी इतिहास–लेखकों की पुस्तकों से होता है। कहा जाता है कि कोई बीस लेखकों ने सिकन्दर के प्रसिद्ध भारत–आक्रमण का इतिहास लिखा था, जिनमें से बहुतेरे स्वयम् सिकन्दर बादशाह के साथ थे। पर, इनमें से अब केवल थोड़े लेखकों के ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन लेखकों में से केवल मुख्य–मुख्य के नाम ही ऊपर दिये गये हैं।

बहुत समय तक इन यूनानी ग्रन्थों का विशेष उपयोग इस कारण नहीं किया जा सका कि उनमें भारत के किसी ऐसे प्रसिद्ध राजा का नाम नहीं मिलता था, जिसका भारतीय साहित्य में भी उल्लेख हो। किन्तु जब सन् १७८६ के लगभग विद्वद्वर सर विलियम जोन्स ने यह सिद्ध कर दिया कि यूनानी ग्रन्थों की 'सेन्ड्रोकोटस' 'चन्द्रगुप्त' का अपभ्रंश है, तब से यहाँ के इतिहास में एक नया युग प्रारम्भ हो गया है। इससे न केवल स्वयम् चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य का हाल व उसका समय ठीक–ठीक निश्चत हो सका, पर एक निर्विवादास्पद स्थल के मिल जाने से चन्द्रगुप्तसे पहिले के और पश्चात् के राजाओं के काल–निर्णय में भी बड़ा सुभीता हो गया। भगवान् बुद्ध का निर्वाण काल, शिशुनाग और नंद–वंशी राजाओं व पूर्व के कण्व आदि वंशों के समय का अनुमान भी चन्द्रगुप्त मौर्य के समय ही से किया जाता है।

मैगस्थनीज बहुत समय तक महाराज चन्द्रगुप्त के दरबार में यूनानी बादशाह सेल्यूकस के दूत की हैसियत से रहा था।

उस समय के भारत का जितना हाल उसने देखा और सुना, उसको उसने अपनी एक पुस्तक में लिखा था। दुर्भाग्य-वश वह ग्रन्थ हमें प्राप्त नहीं हुआ है, पर उसके पीछे होनेवाले बहुतसे यूनानी लेखकों ने उस ग्रन्थ से जो कुछ उद्धृत किया है, उसी से हमें मैगस्थनीज़ का भारत-वर्णन का पता चलता है। मैगस्थनीज़ का सम्बन्ध राजदरबार से था; इसलिये उसने नैतिक बातों का जो विवरण दिया है, वह बहुत यथार्थ और विश्वसनीय है, क्योंकि उसकी पुष्टि अशोक के शिलालेखों से एवम् विशाखदत्त के मुद्राराक्षस तथा हाल ही में प्राप्त उसी काल के अति प्रामाणिक ग्रन्थ चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' से होती है। मैगस्थनीज़ ने मौर्यवंशीय राजधानी पाटलीपुत्र, राजा की दिनचर्या, नगर, प्रान्त, गुप्तचर, सेना व न्याय आदि के प्रबन्ध का जो चित्र खींचा है, वह मुख्य-मुख्य बातों में उपर्युक्त ग्रन्थों के समान ही है। पर उसने जो केवल श्रुत बातें ही लिखी हैं, उन्हें पढ़कर आश्चर्य होता है कि मैगस्थनीज़ जैसे सूक्ष्मदर्शी इतिहास-लेखक ने ऐसी असम्भव बातों का वर्णन क्यों कर किया! वह लिखता है कि भारत में कई मनुष्य-जातियाँ ऐसी हैं, जिनके मुख नहीं होता, तथा जिनके एक ही आँख होती है। यद्यपि इन बातों का इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि लेखक की सरल विश्वासपरता का परिचय कराने के लिए इन बातों का उल्लेख किया गया है। चूँकि मैगस्थनीज़ की मूल पुस्तक हमें प्राप्त नहीं है, इसलिये यह भी सम्भव है कि ये बातें उसकी रचना से उद्धृत करनेवाले लेखकों ने जनश्रुति के आधार पर जोड़ दी हों।

मैगस्थनीज़ ने उस समय की भारतीय जनता को जो षट् भागों में विभाजित किया है, वह भी सर्वथा यथार्थ और पूर्ण नहीं है।

ईसा के पूर्व पहिली और दूसरी शताब्दियों में पश्चिमोत्तर भारत पर बलख और पार्थिया के बादशाहों के आधिपत्य का पता भी यूनानी ग्रंथों से ही चलता है। उनका इतिहास समझने के लिए हमारे देश में केवल उन राजाओं के सिक्के मात्र हैं, जो बहुतायत से उपलब्ध हैं और जिनका विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे। यह भारतीयों की ऐतिहासिक उदासीनता का ज्वलन्त प्रमाण है कि दारियस की विजय व सिकंदर के भीषण आक्रमण जैसी बड़ी बड़ी घटनाओं का स्पष्ट उल्लेख तक भारत के प्राचीन इतिहास में कहीं भी नहीं पाया जाता। हाँ, इन घटनाओं के कुछ बहुत ही अस्पष्ट और हीन संकेत-मात्र कहीं कहीं पाये जाते हैं। पतञ्जलि के महाभाष्य में लगभग १५० ई० पूर्व) यवनों-द्वारा साकेत और मध्यमिका के घेरे जाने का उल्लेख है। इसी प्रकार गार्गी संहिता (लगभग तीसरी शताब्दि) में भी भविष्यद्वाणी के रूप में 'दुष्ट विक्रान्त' यवनों का साकेत, पाञ्चाल और मथुरा पर आक्रमण और अधिकार करने का उल्लेख है।

क्योंकि विदेशी ग्रन्थों, और सिक्कों से इस बात का पता चलता है कि ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दि के मध्य भाग में मिनेण्डर ने भारत पर आक्रमण किया था और वह मथुरा तक पहुँच गया था, इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि सम्भवतः, उपर्युक्त-उल्लेख इसी आक्रमण के सम्बन्ध में किये गये हैं। पर

इस बाहिरी सहायता के बिना इन उल्लेखों का तथ्य समझलेना असम्भव था। इसी आधार पर बौद्धों के 'मिलिन्द पण्हों' नामक ग्रन्थ के 'मिलिन्द' मिनेण्डर ही प्रतीत होते हैं।

इसके पश्चात् कोई पाँच शताब्दि के भारतीय इतिहास के लिए हमें विदेशी लेखकों से विशेष सहायता नहीं मिलती और इसी कारण ईसवी की दूसरी, तीसरी तथा चौथी शताब्दि का उत्तर भारत का इतिहास अभीतक निविड़ अंधकार में है। इस काल के इतिहास-निर्माण के लिए अभीतक कोई संतोष-जनक प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं हुई है। हमारे इतिहास से यूनानी इतिहास का सम्बन्ध सन्-ईसवी के पूर्व पहिली शताब्दि में ही विच्छिन्न हो गया था जिससे यूनानी लेखकों ने भारत के विषय में लिखना छोड़ दिया। उनका स्थान पांचवीं शताब्दि से चीनी यात्रियों ने लिया। ये बौद्ध होने के कारण भगवान् बुद्ध की जन्म-भूमि भारत में धर्म-यात्रा करने और धार्मिक ग्रन्थों को इकत्रित करने के लिए आये। इन यात्रियों ने अपने भ्रम में जो कुछ देखा सुना, उसे अपनी यात्रा के वर्णन में स्थान दिया। क्योंकि ये स्वयम् भारत में बहुत समय तक रहे और भारतीय सभ्यता से यूनानियों की अपेक्षा बहुत अधिक परिचित थे। इनके कथन, इस कारण यूनानी लेखकों से अधिक विश्वसनीय और विस्तीर्ण हैं। पर यूनानी कथनों का महत्व इसमें है कि वे बहुतेरे दूसरे साधनों से अज्ञात बातों पर प्रकाश डालते हैं।

पहिला चीनी यात्री फाहियान सन् ३९९ ई० में भारत में आया और सन् ४१४ तक भ्रमण करता रहा। उसने उस समय

के बौद्ध धर्म की अवस्था का ही विशेष वर्णन किया है। वह अपने धार्मिक कार्यों में इतना व्यग्र था कि उसने अपने वर्णन में उस समय के प्रतापी राजा द्वितीय चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) का नाम तक कहीं नहीं लिखा। पर फिर भी उसकी पुस्तक से देश की तत्कालीन राजनैतिक और आर्थिक अवस्था का बहुत कुछ हाल विदित होता है। प्रजा सुखी थी और न्याय-प्रबन्ध अच्छा था। किसान लोग राजा को कर-स्वरूप उपज का एक अंश देते थे। सारे देश में चांडालों के अतिरिक्त न तो कोई जीवहिंसा करता था, न मद्य पीता था और न लहसुन प्याज ही खाता था। लेन-देन में केवल कौड़ियों का व्यवहार किया जाता था। पाटलिपुत्र में एक बड़ा दवाखाना था, जिसमें राज्य की तरफ़ से दवा मुफ्त दी जाती थी। यद्यपि गुप्त-राजा वैष्णव मतावलम्बी थे, तथापि इस समय बौद्ध धर्म उन्नति पर था। जगह-जगह बौद्धों के बड़े-बड़े मठ और मन्दिर थे, जिनमें हजारों भिक्षुक वास करते थे। पर महात्मा बुद्ध के जन्म और भ्रमण-स्थान बहुत कुछ उजाड़ हो चुके थे। बौद्ध-धर्म की महायान शाखा का ही वैभव बढ़ रहा था। बुद्ध भगवान् की मूर्तियां बड़े ठाठ-बाट और आडम्बर से पूजी जाने लगीं थीं,—इत्यादि बातों का ज्ञान हमें फ़ाहियान के वर्णन से होता है।

फ़ाहियान के पश्चात् सन् ६३० में हुएन्सांग भारतवर्ष में आया और पन्द्रह वर्ष तक देश में परिभ्रमण करता रहा। उसने भी अपने भ्रमण का विस्तृत वर्णन लिखा है, जिससे हर्षवर्धन के समय में देश की धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक अवस्था का अच्छा परिचय मिलता है। उस समय

उत्तर भारत में प्रतापी हर्षवर्धन का राज्य था, जिसने अपने बाहुबल से बृहत् साम्राज्य स्थापित कर लिया था। वह स्वयम् बौद्ध था, इस कारण उसके समय में बौद्ध धर्म की विशेष उन्नति हुई। पर इस उन्नति में भी हुएन्सांग ने बौद्ध धर्म की आगामी अवनति के चिह्न पाये। बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों में भारी विरोध के कई प्रमाण इस वर्णन में मिलते हैं। हर्षवर्धन के समय में भी गुप्तों के समान ही देश में राजनैतिक सुप्रबन्ध था और प्रजा सुखी थी। लौटते समय हुएन्सांग यहाँ से बुद्ध भगवान् की कई सोने व चाँदी की मूर्तियों के अतिरिक्त कोई ६५७ बौद्ध ग्रंथ अपने साथ ले गया। इन दिनों भारतवर्ष में और भी कई चीनी यात्री आये, पर उपर्युक्त दो यात्रियों के समान अपनी यात्राओं का वर्णन किसी ने नहीं किया। चीनी ऐतिहासिक पुस्तकों में भी भारतवर्ष की कुछ इतिहासोपयोगी सामग्री मिलती है, पर उन सब ग्रंथों की अभी तक यथेष्ट छानबीन नहीं की जा सकी है।

शिलालेख व ताम्रपत्रादि

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के ज्ञान के लिए तीसरे बहुमूल्य और विशेष उपयोगी साधन वे लेख हैं जो बहुधा प्राचीन शिलाओं और स्तम्भों में, गुफाओं और स्तूपों में, मन्दिरों और जलाशयों में तथा ताम्रपत्रों पर खुदे पाये जाते हैं। ऐसा सबसे प्राचीन लेख पिप्रवा के स्तूप से प्राप्त हुए पत्थर के उस घड़े पर खुदा पाया गया है, जिसमें बुद्ध भगवान् की अस्थियाँ और भस्मावशेष रखे गये थे। वीर निर्वाण सं० ८४ (ई० पू०

४४३) का एक लेख अजमेर के निकट बड़ली गाँव में मिला है। शिशुनाग वंश के समय की अनुमानित मूर्तियों पर खचित लेखों पर अभी विवाद चल रहा है। ये लेख भारतीय लेखन-कला के इतिहास के लिए ही महत्व के हैं। इनसे राजनैतिक इतिहास में विशेष सहायता नहीं मिलती। पर ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दि के लगभग मध्यभाग में अशोक मौर्य द्वारा लिखाये गये शिलाओं और स्तम्भों पर के लेख राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक इतिहास के लिए भी बहुत अधिक उपयोगी हैं। इनकी संख्या करीब ३५ है। ये सब इस प्रतापी नृप के उच्च और उदार विचारों तथा भावों के द्योतक हैं। इनसे इस राजा के विशाल साम्राज्य के विस्तार और सीमा का भी पता चलता है, जो दक्षिण में मैसूर तक, उत्तर में हिमालय तक, पूर्व में समुद्र तक, और पश्चिम में आधुनिक अफ़गानिस्तान में बहुत दूर तक फैला हुआ था। इन लेखों से विदित होता हैं कि उस काल के मिस्र, यूनान, ईरान आदि के राजाओं से भारत-सम्राट् का घनिष्ठ राजनैतिक सम्बन्ध था। इन विदेशी राजाओं के नाम भी अशोक के लेखों में आये हैं, जिससे अशोक के समय-निर्णय में बहुत सहायता मिलती है। ये लेख ऐसी चतुराई से लिखे गये हैं कि बौद्ध-धर्मावलम्बी अशोक के लेखों में प्रचुरता से बौद्ध धर्म के भाव होने पर भी, अशोक का बौद्ध धर्म के प्रति विशेष पक्षपात कहीं भी प्रगट नहीं होता। किन्तु सब धर्मों में उसकी समदर्शिता ही स्थान-स्थान पर झलकती है,—'देवानं पिये पियदासि राजा सव पासंडानि च पवजितानि च घरिस्तानि च पूजयति,' अर्थात् देवों

का प्यारा प्रियदर्शी राजा सब धर्मवालों को, सन्यासियों और गृहस्थों को सत्कार देता है। यह उसके एक लेख की प्रारम्भिक प्रस्तावना है। महाराजा अशोक के लेखों में ब्राह्मण, बौद्ध, निर्ग्रन्थ और आजीवक मतों का उल्लेख आया है। लोगों को धार्मिक शिक्षा देने तथा न्याय करने के लिए राज्य की ओर से 'धर्म महामात्य' नियत थे। सारा साम्राज्य प्रदेशों में विभाजित था, जो एक-एक प्रादेशिक अथवा सूबेदार के आधीन थे। राज्य-प्रबन्ध और न्याय पर राजा की कड़ी दृष्टि रहती थी। एक लेख में राजा ने एक प्रादेशिक तथा उसके अधीनस्थ अन्य कर्मचारियों को न्याय और प्रबन्ध की शिथिलता के लिए कड़ी भर्त्सना दी है। साम्राज्य भर में सुपथों, कूपों और औषधालयों का सुप्रबन्ध था। लेख में राजा के कलिंग-युद्ध और विजय का वर्णन है। वह लेख विजय की घोषणा कराने के लिए नहीं लिखा गया था, किन्तु उसमें इस प्रकार की खून-खराबी करके विजय प्राप्त करने से उत्पन्न राजा के वैराग्य का, और आगे ऐसे कभी युद्ध न ठानने की प्रतिज्ञा का, वर्णन मात्र है। और इसमें दूसरों को उपदेश दिया गया है कि ऐसी विजयों की अपेक्षा धर्म विजयों में संलग्न होना अधिक कल्याणकारी है। अकबर को छोड़कर ईसा की बारहवीं शताब्दि के पूर्व के अन्य किसी भारतीय राजा का हमें इतना अच्छा परिचय नहीं मिलता, जितना इन शिलालेखों की सहायता से अशोक सम्राट् का मिलता है। इन लेखों में राजा का नाम 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी' ही पाया जाता है, अशोक नहीं। पर अन्य साधनों से यह बात सिद्ध हुई है कि यह अशोक सम्राट् का ही उपनाम था।

'अशोक' नाम हाल ही में उपलब्ध मक्सी के शिलालेख में मिला है। इन लेखों की भाषा एक प्रकार की प्राकृत है। ईसा की दूसरी शताब्दि के पूर्व के सभी लेख किसी न किसी प्रकार की प्राकृत भाषा में ही लिखे गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस समय की राज्य-भाषा तथा प्रजा की व्यवहार-भाषा प्राकृत ही थी, संस्कृत नहीं।

इनकी लिपि 'ब्राह्मी' है जिससे कि धीरे धीरे नागरी, मराठी, बंगला, गुजराती गुरुमुखी आदि आधुनिक लिपियाँ निकली हैं।

अशोक के पश्चात् होनेवाले राजाओं के न तो हमें कोई ऐसे अच्छे शिलालेख मिलते हैं और न विदेशियों के उनके विषय के कोई लेख उपलब्ध हैं, क्योंकि मौर्य-साम्राज्य के ध्वंस होने पर भारत में कोई चक्रवर्ती राजा ही नहीं रहा था। सारा देश कई छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में बट गया था। इससे विदेशी राज्यों से जो राजनैतिक-सम्बन्ध था, वह टूट गया था।

मौर्य-वंश के पीछे के शुंग व कण्ववंशी राजाओं की केवल नामावलियाँ हमें 'पुराणों' से उपलब्ध हैं। इन राजाओं में से किसी-किसी के नाम कहीं-कहीं शिलालेखों में भी आ जाते हैं, जिससे पुराणों के कथनों का समर्थन हो जाता है।

उदयगिरि से एक बड़ा लेख प्राप्त हुआ है, जिससे ईसवी पूर्व लगभग सौ वर्ष के कालिङ्ग के राजा खारवेल (महामेघवाहन) का हाल विदित होता है। आन्ध्रवंशी राजाओं की नामावली भी पुराणों में मिलती है और इनके बहुत से शिलालेख दक्षिण में

नासिक, कार्ले अमरावती, कन्हेर आदि स्थानों में मिलते हैं, जिनसे बहुत से राजाओं के युद्ध, विजय, राज्य-विस्तार तथा समृद्धि आदि का बोध होता है।

उत्तर भारत के विदेशी कुशानवंश का इतिहास-ज्ञान अभी तक अनिश्चित है। मथुरा के आसपास से इस वंश के जो लेख मिले हैं, उन पर ३ से लगाकर ६६ तक के अंक हैं।

कनिष्क	३—४१
वासिष्क	२४—२९
हुविष्क	३३—६०
वासुदेव	६८—९९

इन अंकों के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कोई कोई विद्वज्जन उन्हें विक्रम संवत् के और कोई-कोई इन्हें शक-संवत् के सिद्ध करते हैं, तथा कनिष्क को इन संवतों का प्रचारक मानते हैं। किसी-किसी का मत है कि कनिष्क ने अपना एक स्वतंत्र ही संवत् चलाया था, जो अब चालू नहीं है और उसी के ये अंक हैं। एक और मत से ये 'सेल्यूसिड' नाम के एक पश्चिमी संवत् के अंक माने जाते हैं। इन अंकों के विषय का भ्रम दूर होने से ही कुशानवंश का राजत्वकाल ठीक-ठीक निश्चित किया जा सकता है; पर ऊपर का कोई भी मत ठीक हो, यह अवश्य है कि इस वंश का उत्तर भारत पर आधिपत्य ईसवी सन् के प्रारम्भ के लगभग रहा है।

शक-संवत् ७२ का एक बड़ा लेख पश्चिम भारत के शक

राजा रुद्रदामन् की गिरनार की उसी शिलापर खुदा हुआ पाया जाता है, जिसपर अशोक की चौदह शिला-प्रशस्तियाँ खुदी हैं। इस लेख में रुद्रदामन् द्वारा गिरनार की उस सुदर्शन झील के संस्कार कराये जाने का वर्णन है जिसे मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने बनवायी थी, जिसे अशोक ने भी सुधरवायी थी और जिसका पुनः संस्कार रुद्रदामन् से लगभग तीन शताब्दि पश्चात् कुमारगुप्त के समय में कराया गया था। इस विषय का वर्णन कुमारगुप्त के इसी शिलापर के एक लेख में पाया जाता है। यह पहिला ही ऐसा लेख है, जो पूरा पूरा शुद्ध संस्कृत में लिखा गया है। इसके पहले के जितने लेख मिलते हैं वे सब प्राकृत या संस्कृत मिश्रित प्राकृत में हैं। पर इस समय से लेख संस्कृत में ही अधिक लिखे जाने लगे और धीरे-धीरे भाषाशैली अलंकृत भी हो चली। ईसवी सन् ३२० के आगे के जो शिलालेख व ताम्रपत्र मिलते हैं, वे बहुत उच्च अलंकार-मय संस्कृत भाषा में हैं। जैन और बौद्ध लोगों ने किसी समय संस्कृत को छोड़कर प्राकृत भाषाओं को अपनाया था और अभीतक अपनी सब रचनाओं में प्राकृत का ही उपयोग किया करते थे, पर वे भी इस समय से अपने लेखों में संस्कृत का उपयोग करने लगे।

गुप्त-काल के (सन् ३२०-६०० ईसवी) संस्कृत गद्य और पद्य में रचे हुए बहुत से शिलालेख व ताम्रपत्र मिले हैं, जिनसे गुप्त राजाओं के समय की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और साहित्यिक अवस्था का बहुत ही अच्छा परिचय मिलता है। अधिकांश लेखों के प्रारम्भ में राजाओं की आदि से

वंशावली दी रहती है। प्रयाग के क़िले में विद्यमान समुद्रगुप्त (३२६-३७५) के एक बड़े भारी स्तम्भ पर के लेख में इस राजा की दिग्विजय का वर्णन है, जिसमें उस समय के उत्तर और दक्षिण भारत के प्रायः सभी राज्यों व राजाओं का उल्लेख है। इनमें से बहुत से नामों का तो ऐतिहासिक पता लग गया है, पर कितने ही अभीतक विवादग्रस्त हैं। बहुतों का मत है कि कालिदास ने रघुवंश के चौथे सर्ग में रघु की दिग्विजय का वर्णन समुद्रगुप्त की इसी विजययात्रा के आधार पर किया है। इस लेख की भाषा और इसके पश्चात् के कुमारगुप्त के मन्दसोर के लेख (सन् ४७३-७४ ईसवी) की कविता-शैली, शब्द-प्रयोग तथा वर्णन का ढंग और अलंकारों की योजना कालिदास के काव्यों से बहुत-कुछ मिलती है। इस पर से कुछ विद्वान् अनुमान करते हैं कि यह महाकवि इन्हीं गुप्त राजाओं के समय में हुए हैं। इस मत का कुछ-कुछ समर्थन दूसरे कई प्रमाणों से भी होता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय (सन् ३७५-४१३ ई०) के सिक्कों पर से उसका दूसरा नाम विक्रमादित्य भी पाया जाता है और कालिदास के विषय में भी यह जनः श्रुति है कि ये विक्रमादित्य के दरबार में थे। मेघदूत में इन्हों ने हूणों का निवास-स्थान वक्षु (Oxus ऑक्सस) नदी का तीर बताया है। इतिहास से पता चलता है कि हूण लोगों का निवास ऑक्सस के किनारे सन् ४५० ईसवी के लगभग था। इसके कुछ ही पश्चात् उन्होंने भारत पर आक्रमण किया।

बहुत से लेख मन्दिरों व देव-मूर्तियों की स्थापना के स्मारक होने से, व कई लेखों के मंगलाचरणों पर से वे उस

समय की धार्मिक अवस्था के भी द्योतक हैं। उनसे पता चलता है कि उन दिनों यहाँ सौर, वैष्णव और शैव धर्मों का खूब ज़ोर बढ़ रहा था। जैन और बौद्ध धर्म भी प्रचलित थे, पर वे उन्नत-अवस्था में नहीं थे। चीनी यात्री फ़ाहियान (३९९-४१४) के वर्णन से भी यही बात प्रगट होती है। गुप्त-राजा वैष्णव धर्मावलंबी थे। इस कारण इसी धर्म का प्रचार अधिक बढ़ रहा था।

कई लेखों से उस काल की आर्थिक अवस्था का भी अच्छा बोध होता है। गढ़वा, सांची आदि स्थानों के कुछ लेखों में भिक्षुओं के भोजनों के लिए द्रव्य दिये जाने का वर्णन है जिससे विदित होता है कि उस समय दस दीनारों का व्याज एक आदमी के नित्य के भोजन के लिए पर्याप्त होता था। दीनारों की कीमत, तौल व सूत की दर का हिसाब लगाने से ज्ञात हुआ है कि उस समय एक रुपया में एक मनुष्य के तीन महीने का भोजन चलता था। इसी प्रकार और लेखों के आधार पर से हिसाब लगाया गया है कि उस समय साढ़े छै आना का सवा मन तेल मिलता था। फ़ाहियान के व्यवहार में हम लिख चुके हैं कि उसने उस समय लेन-देन व्यवहार में कौड़ियों का ही प्रचार देखा था। कहना न होगा कि गुप्त राजाओं के समय में मनुष्यों के साधारण निर्वाह के लिए केवल कौड़ियों की ही आवश्यकता हुआ करती थी।

स्कन्दगुप्त के समय (४५५-४८० ई०) के लेखों में हूणों के आक्रमण के उल्लेख पाये जाते हैं। उन्होंने एक बार गुप्तों के साम्राज्य की नीव तक हिला दी थी। हूणों की पहिली चढ़ाई

सन् ४५० और ४५५ ई० के बीच में हुई होगी। कोई दस वर्ष बाद उनका दूसरा आक्रमण हुआ। इस समय उनका नायक सम्भवतः तोरमण रहा है जिसके समय के दो लेख मिले हैं। ई० सन् ४९९ के लगभग यह महाराजा की उपाधि धारण कर मालवा का राजा बन बैठा। ई० सन ५०२ के अनुमान इसका पुत्र मिहिरकुल इसका उत्तराधिकारी हुआ जो अपनी दुष्टता और अमानुषिक अत्याचारों के लिए भारत के इतिहास में प्रसिद्ध है। मन्दसोर के एक शिलालेख के अनुसार इसे महाराज यशोधर्म ने पराजित किया था। किन्तु हुएन्सांग ने इसे पराजित करने का श्रेय बालादित्य को दिया है। अनुमानतः इन दोनों ने मिलकर इस विदेशी राजाको पराजित किया होगा।

इसके पश्चात् के बहुत से शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों से हर्षवर्धन, व मगध के पिछले गुप्त राजाओं का, एवम् वल्लभि, मौखरी, लिच्छवि आदि बहुत से छोटे-बड़े राज-वंशों का इतिहास विदित होता है। इन वंशों तथा राजाओं का कहीं-कहीं साहित्य में भी उल्लेख मिलता है, जिसकी पुष्टि इन लेखों से होती है। कई लेखों में तो उसी वंश के पूर्ववर्त्ती राजाओं के नाम-मात्र देकर तत्कालीन राजा के समय की घटनाओं का वर्णन किया गया है; पर कुछ लेखों में वंश के प्रत्येक राजा के विषय में कुछ न कुछ कहा गया है।

गुप्त-काल के कई लेखों में एक मालव-संवत् का उल्लेख आया है। निर्णय करने पर मालव-संवत् और विक्रम-संवत् का समय एक ही होता है। इस पर से विद्वानों ने सिद्ध किया है कि जो संवत् आजकल विक्रम के नाम से प्रख्यात और

प्रचलित है वही उसकी ५ वीं से ८ वीं शताब्दि तक मालव संवत् कहलाता था। इसके भी पहले सम्भवतः वह 'कृत संवत्' के नाम से प्रख्यात रहा होगा। शिलालेखों में नवमीं शताब्दि के पहिले विक्रम संवत् का उल्लेख नहीं पाया जाता, यद्यपि विक्रम राजा का वृत्तान्त कई प्राचीन ग्रन्थों में आया है, और वे एक संवत् के प्रवर्तक भी कहे गये हैं। पश्चिमी विद्वान् तो सभी किसी विक्रम नाम के राजा का ईसा के पूर्व पहिली शताब्दि में होना झूठ मानते ही हैं, पर कई देशी विद्वानों का भी यही मत है। इस विषय में खोज होने के लिए अभी बहुत क्षेत्र है।

शिलालेखों से जो वृत्तान्त विदित होता है, वह प्रायः सन्देह-कोटि से परे है। इसमें सन्देह नही कि कई ताम्रपत्र जाली हैं। डा० फ्लीट ने पचासों ताम्रपत्र जाली सिद्ध कर दिखाये हैं। पर यह जालसाजी दान-पत्र की दृष्टि से की गयी है। वह ऐतिहासिक जालसाजी नहीं है, जैसी कि कई ग्रन्थों में पायी जाती है। अतः उनके ऐतिहासिक समाचारों में अधिक संदेह करने का कोई कारण नहीं है।

एक बात ध्यान रखने योग्य है कि सारा उत्तर भारत एक साम्राज्य के अंतर्गत कभी-कभी ही रहा है। ऐतिहासिक समय में सब से प्रथम चन्द्रगुप्त मौर्य (ई० पू० ३२०) भारत का क्षत्रपति सम्राट् हुआ। इसके पौत्र अशोक ने इस साम्राज्य को न केवल कायम रखा, पर उसको कुछ अधिक विस्तृत किया। पर अशोक के बाद भारत में कुछ काल के लिये कोई चक्रवर्ती राजा नहीं हुआ। सारा देश छोटे बड़े कई स्वतंत्र राज्यों में बँट

गया। फिर लगभग पाँच शताब्दि पश्चात् (सन् ३२० ई०) गुप्तवंशी राजाओं ने भारतवर्ष को एक साम्राज्य के अंतर्गत किया। किन्तु इस वंश के प्रतापी राजाओं का सूत्र टूटते ही सारे देश के फिर टुकड़े टुकड़े हो गये। हर्षवर्धन ने (सन् ६३० ईसवी) एक बार फिर सारे देश में ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न किया और उसमें वह बहुत-कुछ कृतकार्य भी हुआ, किन्तु उसके पश्चात् ही साम्राज्य की वह एकता नष्ट हो गयी।

अतः भारत का पूरा इतिहास संगठित करने के लिए हमें समय समय के भिन्न भिन्न अनेक राजवंशों के वृत्तान्त एकत्रित करने की आवश्यकता है।

अभी तक भारतवर्ष में ईसवी पूर्व ४०० से पहले के कोई व्यवस्थित व शंका-रहित ऐतिहासिक स्मारक नहीं मिले थे। पर हाल ही में पंजाब के हरप्पा और सिंध के मोहेंजोदारो नामक स्थानों की खुदाई से प्रचुर संख्या में ऐसे ध्वंसावशेष मिले हैं, जो ईसवी से कई हजार वर्ष पूर्व के अनुमान किये जाते हैं, तथा जिनसे उस अत्यन्त प्राचीन काल की उन्नत सभ्यता का अच्छा पता चलता है। इन अवशेषों में अनेक मुहरें आदि इस प्रकार की हैं जिनपर कुछ लेख हैं। किन्तु यह लिपि बड़ी विचित्र है। उसका यहां की ब्राह्मी खरोष्ठी आदि लिपियों से कोई संबंध नहीं जंचता। इनके रहस्य को खोलने में पूर्वीय और पश्चिमी विद्वान् प्रयत्न शील हैं। इन स्मारकों ने भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास सम्बंधी मानताओं में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी है।

प्राचीन सिक्के

प्राचीन शिलालेखों के समान प्राचीन सिक्कों से भी भारत के इतिहास-निर्माण में बहुत सहायता मिलती है। शिलालेखों के साथ ही इस साधन पर भी विद्वानों की दृष्टि पहुँची। यथार्थ में शिलालेखों के पढ़े जाने की कुंजी प्राचीन-सिक्कों से ही मिली। ब्राह्मी और खरोष्ठ्री लिपि के जिन अक्षरों में प्राचीनतम लेख लिखे मिलते हैं वे प्रचलित लिपियों से इतने भिन्न हैं कि बहुत समय तक खूब प्रयत्न किये जाने पर भी अशोक के शिलालेख पढ़े नहीं जा सके। फारसी की तवारीखों से ज्ञात होता है कि सन् १३५६ ई० में देहली के सुलतान फीरोज़शाह तुग़लक ने अशोक के दो स्तम्भ बाहरसे देहली में मँगवाये थे और उन पर खचित लेखों का आशय जानने की इच्छा की थी। परन्तु उस समय एक भी विद्वान् ऐसा न मिला जो उक्त लेखों को पढ़ सकता। कहते हैं कि मुग़ल सम्राट् अकबर को भी उक्त स्तम्भों पर के लेखों का आशय जानने की प्रबल इच्छा थी, परन्तु पढ़नेवालों के अभाव से वह पूर्ण न हो सकी। सन् १८४० ईसवी के लगभग सर जेम्स प्रिंसेप ने इन्हें पढ़ने का प्रयत्न किया। कुछ समय तक असफल होने के पश्चात् उन्हें ब्राह्मी और खरोष्ठ्री वर्णमाला पहचानने की एक कुञ्जी मिल गयी। ईसवी सन् के पूर्व तीसरी शताब्दि में जो यूनानी बादशाह पञ्जाब प्रान्त में राज्य करते थे उनके चलाये हुए बहुत से प्राप्त सिक्कों से ,जिन पर राजा का नाम तथा पदवी एक तरफ यूनानी और दूसरी तरफ ब्राह्मी व खरोष्ठ्री अक्षरों में लिखी है, उनमें आये हुए बहुतेरे अक्षरों का ज्ञान हो गया और

फिर प्रयत्न करने से धीरे धीरे इन दोनों लिपियों की पूरी पूरी वर्णमालाएँ तैयार हो गयीं।

ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दि के पहले के ताँबे और चाँदी के जो सिक्के मिलते हैं वह बहुत सादे हैं। उन पर कोई लेख नहीं रहता और न उनके बीच में एक छेद-सा रहता है। उनका आकार चौकोण अथवा गोल होता है। ये सिक्के राजाओं द्वारा प्रचारित किए हुए नही हैं। पहले पहले राजाओं द्वारा सिक्के चलाने की प्रथा नही थी। वे व्यापारियों द्वारा चलाये जाते थे। इसीलिए मौर्यवंशीय चन्द्रगुप्त तथा अशोक समान प्रतापी राजाओं के हमें कोई सिक्के प्राप्त नहीं हुए। धीरे धीरे व्यापारी-दलों और संघों के नाम भी इन सिक्कों पर 'नेगम' 'धम्मपाल' इत्यादि शब्द छपे हुए पाये जाते है।

राजाओं की तरफ से सिक्के चलाने की रीति बलख और पार्थिया के यूनानी बादशाहोंने चलायी जिनके द्वि-भाषी सिक्कों का हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। कई यूनानी बादशाहों के केवल नाम-मात्र ही इन सिक्कों से विदित होते हैं और उनके समय का अनुमान इन सिक्कों की बनावट, लिपि और अन्य ऐतिहासिक साधनों पर से किया जाता है। मिनेण्डर युक्रेडिटस्, हर्मियस, इत्यादि अनेकों पश्चिमोत्तर भारत के बादशाहों के नाम इन सिक्कोंपर मिलते हैं। कई स्थानों में इनके सिक्के बहुतायत से पाये जाते हैं। इस पर से इन के राज्य-विस्तार व सीमा का भी थोड़ा बहुत अनुमान किया जाता है।

इन यूनानी बादशाहों के ढंग पर ही पश्चिम के शक

और पूर्व के आंध्र राजाओं ने सिक्के चलाये। इन पर भी राजाओं के नाम और पदावियाँ लिखी रहती हैं। यूनानी बादशाहों के सिक्कों पर 'महारजस त्रादतस मेद्रनस', शक के और पह्लव राजाओं के सिक्कों पर 'महारजस रजदिरजस महतस त्रदतस,' तथा आन्ध्र-राजाओं के सिक्कोंपर 'राञो गोतमीपुतस सिरि सातकणिस' अथवा इसी समान लेख लिखित रहते हैं।

पश्चिम के शक-क्षत्रपों के सं० १०० से लगाकर सं० ३१० तक के बहुत से सिक्के मिलते हैं, जिनसे इस वंश के राजाओं के सिलसिलेवार नाम तथा काल-क्रम ठीक-ठीक विदित हो जाते हैं। इन सिक्कों का संवत् शक-संवत् ही है, यह बहुत कुछ निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है।

क्षत्रपों के सिक्कों पर सिंह, धर्मचक्र, इत्यादि के चित्र होने से इनका बौद्ध-मतावलम्बी होना प्रतीत होता है।

इन राजाओं के इतिहास के लिए उनके कोई एक दर्जन शिलालेखों और कई हजार सिक्कों को छोड कर अन्य कोई उपयुक्त साधन नहीं हैं।

ईसवी-सन् के प्रारम्भ के लगभग उत्तर भारत में जिन कुशानवंशी राजाओं का राज्य रहा, उनके विषय में भी मुख्यतः उनके सिक्के ही एकमात्र प्रमाण हैं। इन सिक्कों पर राजाओं के मस्तक और देवताओं के चित्र रहते हैं, और एक तरफ यूनानी और दूसरी तरफ खरोष्ठ्री अक्षरों में राजा का नाम व पदवियां लिखी रहती हैं। इन सिक्कों के आधारपर कुशान राजाओं की

धर्म-नीति के परिवर्तन का बहुत कुछ ठीक ठीक अनुमान किया जा सकता है। प्रथम कडाफिसस के सिक्कों पर एक तरफ राजा का मस्तक और दूसरी तरफ रोमन ढंग की एक पीठिका पर बैठे हुए राजा का चित्र रहता है। कडाफिसस द्वितीय के सिक्कों पर, जोकि पूर्व में काशी तक पाये जाते हैं, एक तरफ अग्निकुण्ड में आहुति देते हुए राजा का और दूसरी तरफ अपने वाहन बैल सहित शिवजी का चित्र होता है। इससे सिद्ध है कि कुशानवंशी राजा भारत में आने पर बहुत शीघ्र ही शैव-मतावलंबी होगये होंगे।

कनिष्क के सिक्कों पर से इस राजा की अपूर्व धार्मिक उदारता और सहनशीलता प्रगट होती है। उन पर एक तरफ कड़फिसस के सिक्कों के समान अग्निकुण्ड में आहुति देते हुए राजा का चित्र होता है व दूसरी तरफ यूनानी देवी देवताओं से लगाकर सूर्य-चन्द्र व शाक्य मुनि महात्मा बुद्ध इत्यादि के चित्र रहते हैं। इससे राजा के धार्मिक विचारों की उदारता का अच्छा परिचय मिलता है।

चन्द्रगुप्त आदि गुप्तवंशी राजाओं के सोने, चांदी और तांबे के कई सिक्के मिलते हैं, जिनमें विशेष संख्या सोने के सिक्कों की है। इन सिक्कों पर विविध प्रकार की चित्रकारी रहती है। चन्द्रगुप्त प्रथम के कुछ सिक्कों में सम्राट् का लिच्छवि राजकुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह के समय का चित्र बना रहता है। शिलालेखों से विदित होता है कि गुप्त नरेश इस सम्बन्ध से अपना बड़ा गौरव समझते थे, क्योंकि इस सम्बन्ध से ही धीरे-धीरे उनका राज्य-वैभव बढ़ा था।

समुद्रगुप्त के कुछ सिक्के उसके किये हुए अश्वमेध यज्ञ के सूचक हैं। इनमें यज्ञस्तम्भ से बंधे हुए घोड़े का चित्र रहता है। इस यज्ञ का उल्लेख शिलालेखों में भी पाया जाता है। इसके कुछ सिक्कोंपर वीणा लिए हुए आसीन राजा का चित्र होता है, जिससे इनके वीणा बजाने का प्रेमी होना प्रमाणित होता है। इनके प्रयाग वाले स्तम्भ के लेख से भी यही विदित होता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिक्कों पर बाँये हाथ में धनुष लिए हुए राजा के चित्र होने से उनका धनुर्विद्या में प्रवीण होना पाया जाता है। इससे उनका उपनाम 'विक्रमादित्य' भी सार्थक होता है।

इस प्रकार और भी तरह-तरह के चिह्नोंसे इन राजाओं के विषय की भिन्न भिन्न बातों का पता चलता है।

गुप्त राजाओं के नामों के आगे उनके सिक्कों पर 'परमभागवत' जुड़ा रहता है—जैसे 'परमभागवत महाराजाधिराज श्री स्कन्दगुप्त।' इससे इनके भागवत (शैव) सम्प्रदायी होना प्रमाणित होता है। शिलालेखों में भी इनके नामों के आगे यह पद पाया जाता है।

इनके सिक्कों पर सं० ९० से लगाकर सं० १७५ तक के अंक रहते हैं। इस संवत् से निस्सन्देह गुप्त संवत् का अभिप्राय है जो इनके शिलालेखों में भी उद्धृत किया गया है और जिसका कि प्रारम्भ सन् ३१९–२० ईसवी से होना निश्चित हो चुका है। सिक्कों और शिलालेखों पर के सम्वतों से गुप्त राजाओं का राज्यकाल बहुत कुछ ठीक ठीक विदित हो जाता है।

गुप्त राजाओं के सिक्कों के ही समान कुछ चाँदी के सिक्के मिले हैं, जिन पर राजा के मस्तक की छाप है और संवत् ५२ का अंक है। दूसरी तरफ़ 'विजितावनिरवनिपति श्री तोरमाण देव जयति' लिखा रहता है। यह तोरमाण वही है जिसका परिचय हम उसके दो शिलालेखों से पा चुके हैं। जिस संवत् का यहाँ उल्लेख है वह अनुमानतः हूण संवत् है, जिसका कि प्रारम्भ सन ४४८ ईसवी के लगभग माना जाता है।

इस राजा के पुत्र मिहिरकुल के भी कुछ सिक्के मिलते हैं, जिन पर राजा की मूर्ति के साथ-साथ त्रिशूल और बैल भी बने रहते हैं। इससे इसका शैव-मतानुयायी होना सिद्ध होता है।

कुछ चाँदी और ताँबे के सिक्के भी मिले हैं, जिनपर एक तरफ़ 'विजितावनिरवनिपति श्री शीलादित्य दिवं जयति' और दूसरी तरफ इन्हीं पदवियों के साथ-साथ शीलादित्य के स्थान में 'श्रीहर्ष' लिखा रहता है। 'स' के आगे १ से ३३ तक के भिन्न-भिन्न अंक भी उनपर पाये जाते हैं। इससे 'हर्ष' का ही दूसरा नाम शीलादित्य होना सिद्ध होता है। हर्ष ने अपने नाम का एक संवत् भी चलाया था, जिसका प्रारम्भ (काश्मीरी पञ्चांगों के अनुसार) सन् ६०६ ईसवी से माना जाता है। संयुक्त प्रान्त और नेपाल में लगभग ३०० वर्ष तक इसके प्रचलित रहने के प्रमाण भी मिलते हैं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि सिक्कों पर यही हर्ष-संवत् उद्धृत किया गया है।

भारत के प्राचीन इतिहास-निर्माण के लिए मुख्यतया ये ही चार साधन उपलब्ध हैं। आर्य-साहित्य की ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग बहुत सावधानी और आलोचनात्मक बुद्धि से करना चाहिए, क्योंकि इसमें अतिशयोक्ति, परस्पर विरोध और कल्पनाशक्ति बहुत पाई जाती है। विदेशियों के कथन बहुतायत से विश्वसनीय हैं। पर कुछ काल के इतिहास पर ये साधन कुछ भी प्रकाश नहीं डालते।

शिलालेख, ताम्रपत्र इत्यादि का ऐतिहासिक वृत्तान्त सर्वथा माननीय है और जिस समय के शिलालेख अथवा ताम्र-पत्र उपलब्ध हैं, उस समय के लिए इन्हें प्रधान प्रमाण मानना चाहिए और इन्हीं के प्रकाश में अन्य साधनों के तथ्य का निर्णय करना चाहिए। सिक्कों में ऐतिहासिक वार्ता आने के लिए बहुत कम क्षेत्र है; पर फिर भी इनकी ऐतिहासिक उपयोगिता बहुत महत्व की है। ये शिलालेखों की पूर्ति करते हैं और स्वयम् उनसे पूर्ण किये जाते हैं।

ऊपर के लेख में यही बतलाया गया है कि इन चार साधनों से किस-किस प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है और जो कुछ ऐतिहासिक वार्ता दी गयी है, वह केवल उदाहरण-स्वरूप है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इन साधनों से अभी तक केवल इतना ही इतिहास सम्पादित किया गया है।

जैन धर्म का प्रसार

जो लोग इतिहास के महत्व से अनभिज्ञ हैं वे प्रश्न कर सकते हैं कि बहुत समय के पुराने खंडहरों; टूटी फूटी मूर्तिओं व अस्पष्ट, अपरिचित लिपियों और भाषाओं में लिखे हुए शिलालेखों के पतों और विवरणों से पुस्तकों के सफे भरने से क्या लाभ? ऐसे भोले भाइयों के हितार्थ इतिहास की महत्ता बताने के लिये मैं केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूं कि यह उज्वल इतिहास की ही महिमा है जो बौद्ध धर्म, जिसका कई शताब्दियां हुईं हिन्दुस्थान से सर्वथा नाम ही उठ गया है, आज भी विद्वत् समाज में बहुत मान और गौरव की दृष्टि से देखा जाता है, और जैन धर्म, जो कि बौद्ध धर्म से कहीं अधिक प्राचीन है, जिसकी सत्ता आज भी भारतवर्ष में अच्छी प्रबलता से विद्यमान है, जिसकी फिलासफी बौद्ध व अन्य कितनी ही फिलासफियों की अपेक्षा बहुत उच्च और वैज्ञानिक है, व जिसका साहित्य भारत के अन्य किसी भी साहित्य की प्रतिस्पर्धा में मान से खड़ा हो सकता है, ऐसा जैन धर्म, अभी तक बहुत कम विद्वानों की रुचि और सहानुभूति प्राप्त कर सका है। बौद्ध धर्म के इतिहास पर इतना प्रकाश पड़ चुका कि उसपर विद्वानों की सहज ही दृष्टि पड़ जाती है। पर जैन धर्म का इतिहास अभी तक भारी अंधकार में पड़ा है जिससे उसे संसार में आज वह मान प्राप्त नहीं है जिसका कि वह न्याय से भागी है।

आज से कोई डेढ़ सौ वर्ष पूर्व जब पश्चिमी विद्वानों ने भारत का प्राचीन इतिहास तैयार करना प्रारम्भ किया तब उन्हें इस देश की एक मुख्यजन-समाज जैन जाति के विषय में भी अपनी सम्मति प्रगट करने की आवश्यकता पड़ी। इस सम्मति को स्थापित करने के लिये साधन ढूंढने में उनकी दृष्टि "अहिंसा परमो धर्मः" जैसे जैनियों के स्थूल सिद्धान्तों पर पड़ी जो कई अंशों में बौद्ध सिद्धान्तों से मिलते जुलते हैं। अतः वे झट इस राय पर पहुंच गये कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की एक शाखा-मात्र है। इस मत को सामने रखकर पीछे पीछे कई विद्वानों ने जैन धर्म के विषय में खोजें कीं, तो उन्हे इसी मत की पुष्टि के प्रमाण मिले। महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध के जीवन काल, जीवन-घटनाओं उपदेशों व उनके माता पिता और कुटुम्बी जनों के नाम आदि में उन्हें ऐसी समानतायें दृष्टि पड़ीं कि उन्हें वे एक ही मनुष्य के जीवन-चरित्र के दो रूपान्तर जान पड़े, और क्योंकि उन्हें जैनियों के पक्ष के कोई भी ऐसे प्रमाण व स्मारक प्राप्त नहीं हुए जिनसे जैन धर्म की स्वतन्त्र उत्पत्ति प्रमाणित होती, अतः उनका यह मत पक्का ठहर गया कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से निकला है। उस समय के प्रसिद्ध भारत-इतिहास लेखक एल्फिन्स्टन साहेब ने अपने इतिहास में जैन धर्म के विषय में यह लिखा "The Jainas appear to have originated in the sixth or seventh century of our era, to have become conspicuous in the eighth or ninth century, got the highest prosperity in the eleventh and declined after the twelfth[1]".

---

1 Elphinstone History of India P. 121.

'अर्थात् जैन धर्म ईसा की छठवीं सातवीं शताब्दि में प्रारम्भ हुआ, ८ वीं ९ वीं शताब्दि में इसकी अच्छी प्रसिद्धि हुई, ११ हवीं शताब्दि में इसने बहुत उन्नति की और १२ हवीं शताब्दि के पश्चात् इसका ह्रास प्रारम्भ हो गया'।

जैनियों ने इस मत को अप्रमाणित सिद्ध करने का कोई समुचित प्रयत्न और उद्योग नहीं किया। इसलिये पूरी एक शताब्दि तक पाश्चात्य व कितने ही देशी विद्वानों का यही भ्रम रहा। यद्यपि इस बीच में 'कोलब्रुक' 'जोन्स' 'विल्सन' 'टामस', 'लेसन', 'बेवर' आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने जैन ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन किया और जैन दर्शन की खूब प्रशंसा भी की, पर उसकी उत्पत्ति के विषय में उनके विचार अपरिवर्तित ही रहे। उन्होंने जैन पुराणों में दिये हुए तीर्थंकरों के चारित्र तो पढ़े, पर उन पर उन्हें विश्वास न हुआ क्योंकि उन ग्रन्थों के काव्य-कल्पना-समुद्र में गोते लगाकर ऐतिहासिक तथ्य रूपी रत्न प्राप्त कर लेना एकदम सहज काम नहीं था।

ऐसे समय में भाग्यवश भारतीय इतिहास की शोध का एक नया साधन हाथ आया। देश में जगह जगह जो शिलाओं व स्तम्भों व मन्दिरों आदि की दीवारों पर लेख मिलते थे उन पर इतिहास-खोजकों की दृष्टि गई। बहुत समय के निरन्तर परिश्रम से विद्वान् लोग इन लेखों की लिपि समझने में सफल हुए जिससे उनकी ऐतिहासिक छान बीन सुलभ हो गई। गत शताब्दि के मध्य भाग में 'सर जेम्स प्रिंसेप' जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तियों के उद्योग से अशोक सम्राट् की

शिलाओं व स्तम्भों पर की प्रशस्तियां पढ़ी गईं जिससे भारत के प्राचीन इतिहास-निर्माण का एक नया युग प्रारम्भ हो गया। इन लेखों ने भारतवर्ष के आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक इतिहास पर अद्भुत प्रकाश डाला और कई ऐतिहासिक भ्रम दूर किये। इससे पुरातत्व-जिज्ञासुओं का उत्साह बढ़ा और प्रयत्न करने से धीरे धीरे देश के भिन्न भिन्न भागों में सतीचौरों, शिलाओं व स्तम्भों, गुफाओं मन्दिरों आदि की भित्तिओं, मूर्तिओं, घटों व ताम्रपत्रों आदि पर खुदे हुए सहस्त्रों लेखों का पता चला जिनसे समय समय के अनेक ऐतिहासिक वृत्तान्त विदित हुए। साथ ही साथ प्राचीन स्तूप, किले, मान्दिर, महल आदि के खंडहरों, खंडित व पूर्ण मूर्तिओं गुफाओं आदि का भी पता चला जिनसे देश का तत्तत्कालिक कला, कौशल कारीगरी व धन वैभव का सच्चा परिचय मिला। इस खोज में लोगों का उत्साह व खोजकों की चमत्कारिक सफलता को देखकर 'लार्ड कर्जन' ने 'आर्किलाजिकल सर्वे' अर्थात् पुरातत्व अनुसन्धान नामक एक सरकारी महकमा खोल दिया। तब से खोज का काम और भी सावधानी और बुद्धिमत्ता से चलने लगा। इससे देश की ऐतिहासिक अन्धकारता बहुत कुछ दूर हो चली है।

इस खोज से जैन धर्म के इतिहास पर जो विशेष प्रकाश पड़ा है उसका यहां पाठकों को संक्षिप्त परिचय करा देना हम उचित समझते हैं।

(१) अशोक सम्राट् (ईस्वी पूर्व २७५ वर्ष) के दिल्ली

के स्तम्भ पर की आठवीं प्रशस्ति में निर्ग्रन्थों ('निगन्थ') का उल्लेख आया है। सम्राट् ने अन्य पन्थों के अनुसार निर्ग्रन्थ पन्थ के लिये भी धर्म-महामात्य अर्थात् धर्माध्यक्ष नियुक्त किये थे। जैन, बौद्ध व ब्राह्मण ग्रन्थों से यह सिद्ध हो चुका है कि प्राचीन काल में जैन साधु सर्वथा परिग्रह रहित दिगम्बर रहने के कारण निर्ग्रन्थ कहलाते थे। यह नाम अब भी जैनियों में प्रचलित है। महाराज अशोक ने इनके लिये धर्माध्यक्ष नियुक्त किये। इससे अनुमान किया जा सक्ता है कि निर्ग्रन्थ मत उनके समय में भी बहुत प्रचलित और प्रबल था; कोई नया निकला पंथ नहीं था। डॉ० जैकोबी ने प्राचीनतम जैन और बौद्ध ग्रन्थों की छान बीन कर सिद्ध किया है कि निर्ग्रन्थ मत बहुत पुराना है। महात्मा बुद्ध के समकालीन श्री महावीर स्वामी जब तप को निकले तब यह पन्थ प्रचलित था[१]। सम्राट् अशोक ने अपनी प्रशस्तियों में जो अहिंसा, अचौर्य, सत्य, शील आदि गुणों पर ज़ोर दिया है उससे प्रतीत होता है कि वे स्वयं जैन-धर्मावलंबी रहे हों तो आश्चर्य नहीं। प्रो० कर्न लिखते हैं[२]:—

'अहिंसा के विषय में अशोक के जो नियम हैं वे बौद्धों की अपेक्षा जैनियों के सिद्धान्तों से अधिक मिलते हैं'।

---

१ डा० जैकोबी 'सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट' जिल्द २२ और ४५।

२ "His (Asoka's) ordinances concerning the sparing of animal life agree much more closely with the ideas of heretical Jains than those of the Buddhists". इन्डियल एन्टीकेरी जिल्द ५ पृ० २०५।

जैन ग्रन्थों में इनके जैन होने के प्रमाण मिलते हैं'[१]। कल्हण कवि की राज-तरंगिणी, जो संस्कृत साहित्य में ग्यारहवीं शताब्दि का एक अद्वितीय ऐतिहासिक ग्रन्थ है, में अशोक द्वारा काश्मीर में जैन धर्म के प्रचार किये जाने का वर्णन है[२] और यही बात अबुल फज़ल की 'आइने अकबरी' से भी विदित होती है। जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा, इनके पितामह महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य जैन थे ही। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अशोक भी जैन हों। कुछ विद्वानों का मत है कि अशोक पहले जैन धर्म के उपासक थे, पश्चात् बौद्ध हो गये[३]। इसका एक प्रमाण यह दिया जाता है कि अशोक के उन लेखों में जिनमें उनके स्पष्टतः बौद्ध होने के कोई संकेत नहीं पाये जाते बल्कि जैन सिद्धान्तों के ही भावों का आधिक्य है, राजा का उपनाम 'देवानांपिय पियदसी' पाया जाता है। 'देवानांपिय' विशेषतः जैन ग्रन्थों में ही राजा की पदवी पाई जाती है। श्वेताम्बरी 'उवाई' (औपपातिक) सूत्र ग्रन्थों में यह पदवी जैन राजा श्रेणिक (बिम्बिसार) व उसके पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) के नामों के साथ लगाई गई है। पर अशोक के २२ वें वर्ष की 'भावरा' की प्रशस्ति में, जिसमें उसके बौद्ध होने के स्पष्ट प्रमाण हैं, उसकी पदवी

---

१ राजावली—कथा (कनाड़ी)।

२ यः शान्तवृजिनो राजा प्रपन्नो जिनशासनम् ।
शुष्कलेऽत्र वितस्तात्रौ तस्तार स्तूपमण्डले ॥
रा० त० अध्याय १

१ अरली फेथ ऑफ अशोक 'Early faith of Asoka' by Thomas.

'केवल पियदसि पाई जाती है, 'देवानं पिय' नहीं। इसी बीच में वे जैन से बौद्ध हुए होंगे। पर आजकल बहुमत यही है कि अशोक बौद्ध थे। जैनियों की वंशावलियों व अन्य ग्रन्थों में उल्लेख है कि अशोक का पौत्र 'सम्प्रति' था, उसके गुरु सुहस्ति आचार्य थे, और वह जैन धर्म का बड़ा प्रतिपालक था। उसने 'पियदसि' के नाम से बहुत सी प्रशस्तियां शिलाओं पर अंकित कराई थीं। इस कथा के आधार पर प्रो० पिशेल व मि० मुकुर्जी जैसे विद्वानों का मत है कि जो शिला-प्रशस्तियां अब अशोक के नामसे प्रसिद्ध हैं, सम्भवतः, वे 'सम्प्रति' ने लिखवाई होंगी। पर सर विन्सेन्ट स्मिथ की राय इससे विरुद्ध है। वे उन सब लेखों को अशोक के ही प्रमाणित करते हैं। उनकी राय में 'सम्प्रति' पुराणों में के राजा 'दशरथ,' अशोक के पौत्र, जिनके कुछ लेख गुफाओं पर पाये गये हैं, का दूसरा नाम रहा होगा। जो हो, इस विषय में अभी और भी खोज व छानबीन कीजाने की आवश्यकता है।

(२) पुरी जिले में उदयगिरि पर्वत पर हाथीगुम्फा नामक गुफा में एक बड़ा बहुमूल्य लेख कलिंग के राजा खारवेल का है। इस लेख का पता सन् १८२० ई० में स्टार-लिंग साहब ने लगाया था। इसका जैनियों से सम्बन्ध डॉ० भगवानलाल इन्द्रजी ने सिद्ध किया था, पर इसका पूरा पूरा और सच्चा मर्म हाल ही में मि० काशीप्रसाद जायसवाल ने समझा है, और उसका विस्तृत विवरण 'बिहार और उड़ीसा की रिचर्स सोसाइटी के जर्नल' जिल्द ३ पृ० ४२५ से ४६७ व ४७३ से ५०७ में प्रकाशित किया है। लेख की पूरी नकल हिन्दी

अनुवाद सहित ब्रह्मचारीजी की 'बंगाल विहार व उड़ीसा के प्राचीन जैन स्मारक' नामक पुस्तक में भी छप चुकी है। लेख प्रारम्भ यों होता है :—

'नमो अरहंतानं' नमो सवसिधानं' इससे स्पष्ट है कि इसका लिखाने वाला निस्सन्देह जैन-धर्मावलम्बी था। लेख में सं० १६५ उद्धृत है। प्रश्न उठता है कि यह कौनसा संवत् हो सक्ता है। मि० जायसवाल ने बड़ी युक्ति से इसे मौर्य संवत् सिद्ध किया है जो महाराज चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण काल (ई० पू० ३२१ सन्) से चला होगा। कोई पूछे कि एक स्वतंत्र राजा दूसरे राजा के चलाये हुये संवत् का उपयोग क्यों करने लगा। इसके उत्तर में श्रीयुक्त जायसवालजी कहते हैं कि इसका कारण राजनैतिक नहीं, धार्मिक रहा होगा। चन्द्रगुप्त मौर्य का जैन ग्रन्थों व चन्द्रगिरि के शिलालेखों से जैन होना सिद्ध होता है। अतः एक जैन राजा के चलाये हुए संवत् का दूसरा जैन राजा आदर करे तो इसमें क्या आश्चर्य ? यह समाधान बहुत युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

इस लेख से सिद्ध होता है कि ई० पूर्व दूसरी शताब्दि में उड़ीसा प्रान्त में जैन धर्म का अच्छा प्रचार था। जायसवाल महोदय लिखते हैं* :—

---

* Jainism had already entered Orissa as early as the time of King Nanda, who, as I have shown, was Nanda Vardhan of the Sesunaga dynasty. Before the time of Kharavela there were temples of the Arhats on the 'Udayagiri Hills,' as they are mentioned in the inscrip-

जैन-धर्म का प्रवेश उड़ीसा में शिशुनागवंशी राजा नन्दवर्धन के समय में होगया था। खारवेल के समय से पूर्व भी उदयगिरि पर्वत पर अर्हतों के मन्दिर थे, क्योंकि उनका उल्लेख खारवेल के लेख में आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि (खारवेल के समय में) जैन धर्म कई शताब्दियों तक उड़ीसा का राष्ट्रीय धर्म रह चुका था '।

इस लेख की उपयोगिता के विषय में श्रीयुक्त जायसवाल जी कहते हैं† :—

---

tions as institutions which had been in existence before Kharavela's time. It seems that Jainism had been the national religion of Orissa for some centuries. (J. B. O. R. S. Vol III. p. 448.)

† This inscription occupies a unique position amongst the materials of Indian History for the centuries preceding the Christian era. In point of age it is the second inscription after Asoka, the first being the Nanaghat inscription of Vedisri. But from the point of view of the chronology of the premauryan times and *the history of Jainism*, it is the most important inscription yet discovered in the country. It confirms the Puranic record and carries the dynastic chronology to C. 450 B. C. Further, it proves that Jainism entered Orissa, and probably became the State religion, within 100 years of its founder Mahavira. It affords the earliest historical instance of the unity of Bihar and Orissa (450 B. C.) For the social history of this country, we get the very important datum that the population of ancient Orissa was 3½ millions in Circa 172 B. C'.

'ईसा के पूर्व की शताब्दियों के भारतीय इतिहास के साधनों में इस लेख का स्थान बहुत उच्च है। प्राचीनता में अशोक के बाद का यह दूसरा ही लेख है-पहला नानाघाट का वेदिश्री का लेख है। पर मौर्यकाल से पहले के इतिहास क्रम व जैन धर्म के इतिहास के लिये तो यह अब तक देश में जितने लेख मिले हैं उन सब में अधिक महत्व का है। वह पुराणों के लेखों का समर्थन करता है और राजवंश-क्रम को ईस्वी पूर्व ४५० वर्ष तक ले जाता है। उससे यह भी सिद्ध होता है कि उड़ीसा में जैन धर्म बहुत करके निर्वाण सं० १०० के लगभग आया और वहां का राष्ट्रीय धर्म हो गया। वह ई० पू० ४५० में विहार और उड़ीसा के एकत्व का सब से प्राचीन प्रमाण है। सामाजिक इतिहास में उससे हमें सब में भारी बात यह विदित होती है कि १७२ ई० पू० के लगभग उड़ीसा की मनुष्य संख्या ३५ लाख थीं।'

(३) मथुरा के पास का 'कंकाली टीला' एक बहुत प्राचीन स्थान है। यहां कई बार खुदाई हो चुकी है। सन् १८७१ में जनरल कनिंघम, सन् १८७५ में मि० ग्रौस व सन् १८८७ से १८९६ तक डा. बर्जेज और डा. फुहरर की अध्यक्षता में खुदाई हुई, जिससे एक प्राचीन जैन स्तूप व उसके आस पास सन् १८९०-९१ तक कोई ११० जैन शिलालेखों और इनके अतिरिक्त कई तीर्थंकरों की मूर्तियों व शिल्पकारी के अन्य नमूनों का पता चला। शिलालेख बहुतायत से कुशानवंशी राजाओं के समय के हैं जिनपर ५ से ९८ तक की वर्षों के अंक पाये जाते हैं। ये वर्ष किसी इंडोसिथियन संवत् की अनु-

मान की जाती हैं। सर विन्सेन्ट-स्मिथ इन लेखों का समय ईसा के पूर्व पहली शताब्दि से लगाकर ईसा की दूसरी शताब्दि तक मानते हैं†। सब से नया लेख वि. सं० ११३४ (ई० सं० १०७७) का है। अतः ये लेख मथुरा में जैन धर्म के लगभग ग्यारह शताब्दियों के ऐतिहासिक तारतम्य का पता देते हैं। इन लेखों में प्राचीनतम लेख से भी यहां का स्तूप कई शताब्दि पुराना है। एक खड्गासन प्रतिमा की पीठिका पर लेख है कि 'यह 'अर' (अरहनाथ) तीर्थंकर की प्रतिमा सं० ७८ में इस देवों द्वारा निर्मापित स्तूप की सीमा के भीतर स्थापित की गई'। इस पर फुहरर साहब लिखते हैं*

"यह स्तूप इतना प्राचीन है कि इस लेख के लिखे जाने के समय स्तूप के आदि का वृत्तान्त लोगों को विस्मरण हो गया था। लिपि के प्रमाण से इस लेख की वर्षं 'इंडोसिथियन (शक) संवत् की प्रतीत होती हैं जिससे लेख सन् १५६ के

---

† 'Jain Stupa and other antiquities of Mathura'

* The stupa was so ancient that at the time when the inscripton was incised, its origin had been forgotten. On the evidence of the characters, the date of the inscription may be referred with certainty to the Indo-Scythian era and is equivalent to A D. 156. The stupa must therefore have been built several centuries before the beginning of the Christian era, for the name of its builders would assuredly have been known if it had been erected during the period when the Jains of Mathura carefully kept record of their donations." (Museum Report 1890-91.)

लगभग का सिद्ध होता है। इसलिये यह स्तूप ईसा से कई शताब्दियां पहले निर्मित हुआ होगा, क्योंकि यदि वह उन समयों में बना होता जबकि मथुरा के जैनी अपने दान आदि के लेख रखने लगे थे तो उसके निर्मापकों का नाम अवश्य ज्ञात हुआ होता"।

यद्यपि 'स्तूप' निर्माण कराने की प्रथा बौद्धों के समान ही जैनियों में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है, और इसके प्रमाण जैन ग्रन्थों में पाये जाते हैं, तथापि इस स्तूप का पता लगने से पूर्व पुरातत्वज्ञों की धारणा थी कि स्तूप केवल बौद्धों ने ही बनवाये। एलफिन्स्टन साहब लिखते हैं[1] :—

"जैन अपने आचार्यों के भस्मावशेषोंकी कोई भक्ति नही करते, और न इनके कोई साधु-आश्रम ही हैं।"

डा० फ्लीट ने कहा है :—

"समस्त स्तूप और पाषाण के कटघरे अवश्य बौद्ध ही होना चाहिये' इस पक्षपात ने जैनियों द्वारा निर्मापित स्तूपों आदि को जैन नाम से प्रसिद्ध होने से रोका, और इसलिये अब तक निःशंकित रूप में केवल दो ही जैन स्तूपोंका उल्लेख किया जा सकता है[2]।"

---

1 They (Jains) have no veneration for relics and no monastic establishments.'

2 "The prejudice that all stupas and stone railings, must necessarily be Buddhist, has probably prevented the recognition of Jain structures as such, and, up to the present, only two undoubted Jain stupas have been recorded' Imp. Gaz. Vol-II, p. 111.

पर मथुरा के स्तूप ने निस्सन्देह उनके भ्रम को दूर कर दिया है। स्मिथ साहब लिखते हैं :—

'कहीं कहीं यथार्थ में जैन-स्मारक गलती से बौद्ध वर्णन किये गये हैं[1]।'

मथुरा के लेख व अन्य स्मारक जैनियों के इतिहास के लिये बहुत ही उपयोगी हैं। इस विषय पर सर विन्सेन्ट स्मिथ के शब्द उल्लेखनीय हैं। वे कहते हैं[2] :—

'इन खोजों से जैनियों के ग्रन्थों के वृत्तान्तों का बहुत अधिकता से समर्थन हुआ है और वे जैन धर्म की प्राचीनता व उसके बहुत प्राचीन समय में भी आज ही की भांति प्रचलित

---

1 'In some cases, monuments which are really Jain, have been erroneously described as Buddhist.'

2 "The discoveries have, to a very large extent, supplied corroboration to the written Jain tradition and thy offer tangible and incontrovertible proof of the antiquity of the Jain religion, and of its early existence very much in its present form. The series of twenty-four Pontiffs (Tirthankaras) each with his distinctive emblem was evidently firmly believed in, at the beginning of the Christian era." Further "The inscriptions are replete with information as to the organization of the Jain church in sections known as *Gana*, *Kula* and *Sakha*, and supply excellent illustrations of the Jain books Both inscriptions and sculptures give interesting details, proving the existence of Jain nuns and the influential position in ths Jain church occupied by women."

के प्रत्यक्ष और अकाट्य प्रमाण हैं। सन् ईस्वी के प्रारम्भ में भी चौबीस तीर्थंकर उनके चिह्नोंसहित अच्छी तरह से माने जाते थे। बहुत से लेख जैन-सम्प्रदाय के गण, कुल व शाखाओं में विभक्त होने के समाचारों से भरे हैं, और वे जैन ग्रन्थों के अच्छे समर्थक हैं। लेखों और चित्रों से जैन श्राविकाओं की सत्ता व स्त्रियों का जैन सम्प्रदाय में प्रभावशाली स्थान का अच्छा रुचिकर ब्यौरा मिलता है। :—

इनमें के कई लेख व चित्र इत्यादि डा. व्हूलर ने 'एपिग्राफिआ एन्डिका' नामक पत्र की पहली जिल्द में छपवाये हैं। उनके विषय में स्मिथ साहब का मत है †

'ये प्लेट्स अन्य कई बातों के सिवाय भारतीय ब्राह्मी लिपि के इतिहास, प्राकृत भाषाओं के व्याकरण व महावरे, भारतीय कला के विकाश, उत्तर भारत के राजनैतिक व सामाजिक इतिहास और जैन धर्म के अनुयायियों के इतिहास, संगठन व पूजन अर्चन की विधि पर प्रकाश डालते हैं'। इस प्रकार मथुरा से मिले हुए जैन स्मारक न केवल जैन इतिहास के लिये, किन्तु भारत देश, विशेषतः उत्तर भारत के इतिहास के लिये बहुत उपयोगी हैं।

---

†" The plates throw light, among other things, on the history of the Indian or Brahmi alphabet, on the grammar and idiom of the Prakrit dialects, on the development of Indian art, on the political and social history of Northern India, and on the history, organization and worship of the followers of the Indian religion." (Jain stupa and other antiquities of Mathura, Page, 4.)

(४) सन् १९१२ में श्रीमान् पं० गौरीशंकर जी ओझा ने अजमेर के पास बड़ली ग्राम से एक बहुत प्राचीन जैन लेख का पता लगाया है। लेख है 'वीराय भगवते चतुरासिति वसे का ये जाला मालिनिये रंनिविठ माझिमिके'। लेख से ही प्रमाणित है कि वह वीर निर्वाण सं० ८४ (ई० पू० ४४३ वर्ष) में अंकित किया गया था। 'माझिमिक' वही प्रसिद्ध पुरानी नगरी 'मध्यमिका' है जिसका उल्लेख पातंजलि ने भी अपने 'महाभाष्य' में किया है*। यह भारतवर्ष में लेखन कला के प्रचार का अभी तक सब से प्राचीन उदाहरण माना जाता है। यह लेख ईस्वी पूर्व पांचवीं शताब्दि में राजपूताने में जैन धर्म का अच्छा प्रचार होना सिद्ध करता है।

(५) जैन ग्रन्थों में महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य के जैन धर्मावलम्बी होने व भद्रबाहु स्वामी से जिन-दीक्षा लेकर उनके साथ दक्षिण को प्रस्थान करने का विवरण है। पर इतिहास-लेखक बहुत समय तक इस कथन की सत्यता में विश्वास करने को तैयार नहीं हुए। पर जब मैसूर राज्य में 'श्रवण बेलगुल' के चन्द्रगिरि पर्वत पर लेखों का पता चला और उनकी शोध की गई तब इतिहासज्ञों को मानना पड़ा कि निस्सन्देह जैन समाचार इस विषयमें बिलकुल सत्य हैं। वहां का सब से प्राचीन लेख, जो भद्रबाहु शिलालेख के नाम से प्रसिद्ध है, ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में लिखा गया

---

* 'अरुणद् यवनः मध्यमिकाम्।

प्रमाणित किया जाता है[1]। इस लेख में यह समाचार है कि परमर्षि गौतम गणधर की शिष्य-परम्परा में भद्रबाहु स्वामी हुए। उन त्रिकाल-दर्शी महात्मा ने अपने निमित्त-ज्ञान से जाना कि उत्तरापथ (उत्तर भारत) में एक भीषण दुष्काल द्वादश वर्ष के लिये पड़ने वाला है। अतः उन्होंने अपने 'संघ' को लेकर दक्षिणापथ को गमन किया। बीच में अपनी आयु का अल्प भाग शेष रहा जान उन्होंने संघ को तो आगे बढ़ने के लिये प्रस्थान कराया और आप स्वयं केवल एक शिष्य प्रभाचन्द्र के साथ 'कट वप्र' नामक पहाड़ी पर ठहर गये और वहीं सन्यास विधि से देहोत्सर्ग किया। यहां के अन्य बहुत से लेखों से सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का ही दीक्षा-नाम प्रभाचन्द्र आचार्य था[2]। लेख से कुछ दूरी पर एक गुफा है जो 'भद्रबाहु की गुफा' कहलाती है। कहा जाता है कि वहीं भद्रबाहु का समाधि-मरण हुआ था[3]। उनके चरण-चिन्ह भी गुफा में अंकित हैं। लेख जिस शिला पर है उसके ठीक सामने 'चन्द्रगुप्त-वस्ती' नामक एक खण्डित मंदिरों का समूह है, जो बहुत प्राचीनता लिये हुये हैं। कहना न होगा कि इस पर्वत का नाम चन्द्रगिरि व 'मन्दिरों' का नाम चन्द्रगुप्त-वस्ती चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम

---

1 'Inscriptions at Sravana Belgula' by Lews Rice, Ins. No. 1. व जैन सिद्धान्त भास्कर किरण १, पृ. १५

2 'Iscriptions at Sravana Belgula' by Lews Rice,

3 'Mysore Inscriptions' by Lews Rice.

पर से ही पड़ा। मि० टामस लिखते हैं[1]:—

'चन्द्रगुप्त जैन-समाज के व्यक्ति थे' यह जैन ग्रन्थ-कारों ने एक ऐसी स्वयं-सिद्ध और सर्व-प्रसिद्ध बात के रूप से लिखा है जिसके लिये उन्हें कोई अनुमान-प्रमाण देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। इस विषय में लेखों के प्रमाण बहुत प्राचीन और साधारणतः सन्देह-रहित हैं। मैगस्थनीज़ के कथनों से भी झलकता है कि चन्द्रगुप्त ने ब्राह्मणों के सिद्धान्तों के विपक्ष में श्रवणों (जैन मुनियों) के धर्मोपदेशों को अंगीकार किया था'।

चन्द्रगुप्त के जैन होने के इतने अकाट्य प्रमाण मिलने पर प्रसिद्ध इतिहासकार 'सर विन्सेन्ट स्मिथ को अपनी 'भारत के प्राचीन इतिहास' की बहुमूल्य पुस्तक के तीसरे संस्करण में यह लिखना ही पड़ा कि[2]:—

---

1 "That Chandragupta was a member of the Jain community, is taken by their writers as a matter of course, and treated as a known fact, which needed neither argument nor demonstration. The documentary evidence to this effect is of comparatively early date and apparently absolved from suspicion......The testimony of *Megasthenes* would likewise seem to imply that Chandragupta submitted to the devotional teachings of the Sramanas, as opposed to the doctrines of the Brahmanas." 'Jainism or Early Faith of Asoka', p. 23.

2 'I am now disposed to believe that the tradition probably is true in its main outline and that Chandragupta realy abdicated and became a Jain ascetic.' V. Smith E. H. I., p. 146.

'मुझे अब विश्वास हो चला है कि जैनियों के कथन बहुत करके मुख्य मुख्य बातों में यथार्थ हैं, और चन्द्रगुप्त सचमुच राज्य त्याग कर जैन मुनि हुए थे'। जायसवाल महोदय समस्त उपलभ्य साधनों पर से अपना मत स्थिर कर लिखते हैं§ :—

'ईसा की पांचवी शताब्दि तक के प्राचीन जैन ग्रन्थ व पीछे के जैन शिलालेख चन्द्रगुप्त का जैन राजमुनि होना प्रमाणित करते हैं। मेरे अध्ययनों ने मुझे जैन ग्रन्थों के ऐतिहासिक वृत्तान्तों का आदर करने के लिये बाध्य किया है। कोई कारण नहीं है कि हम जैनियों के इस कथन को कि चन्द्रगुप्त अपने राज्य के आन्तिम भाग में जैनी हो गया था व पीछे राज्य छोड़ कर जिन दीक्षा ले मुनि–वृत्ति से मरण को प्राप्त हुआ, न मानें। मैं पहला ही व्यक्ति यह मानने वाला नहीं हूं। मि० राइस ने, जिन्होंने श्रवण बेलगोला के शिलालेखों का अध्ययन किया है, पूर्णरूप से अपनी राय

§ 'The Jain books (5th cent. A. C.), and later Jain inscriptions claim Chandragupta as a Jain imperial ascetic. My studies have compelled me to respect the historical data of the Jain writings, and I see no reason why we should not accept the Jain claim that Chandragupta at the end of his reign accepted Jainism and abdicated and died as a Jain ascetic. I am not the first to accept the view. Mr. Rice who has studied the Jain inscriptions of Sravana Belgula thoroughly gave verdict in favour of it and Mr. V. Smith has also leaned towards it ultimately." J. B. O. R. S. Vol. III.

इसी पक्ष में दी है और मि० व्ही० स्मिथ भी अन्त में इस मत की ओर झुके हैं'।

इस प्रकार श्रवण बेलगुल के लेख जैन इतिहास के लिये बड़े महत्व और गौरव के प्रमाणित हुए हैं। उनके विना महाराज चन्द्रगुप्त का जैनी होना सिद्ध करना असम्भव होता।

यह केवल उन मुख्य मुख्य प्राचीनतम लेखों का परिचय है जिनने जैन इतिहास पर विशेष प्रकाश डाल कर उसके अध्ययन में एक नये युगका प्रारम्भ कर दिया है व इतिहासज्ञों की सम्मति-धारायें बदल दी हैं। इनके अतिरिक्त विविध स्थानों में भिन्न भिन्न समय के सैकड़ों नहीं सहस्त्रों जैन लेख व अन्य जैन स्मारक ऐसे मिले हैं जिनसे प्राचीन काल में जैन धर्म के प्रभाव व प्रचार का पता चलता है। वे सिद्ध कर रहे हैं कि जैन धर्म का भूतकाल जगमगाता हुआ रहा है। वह बहुत समय तक राज-धर्म रह चुका है। इसकी ज्योति क्षत्रियों ने प्रभावान् बनाई थी और क्षत्रियों द्वारा ही इसकी पुष्टि और प्रसिद्धि हुई थी। मगध के शिशुनाग वंशी व मौर्य वंशी नरेशों, व उड़ीसा के महाराजा खार बेल के अतिरिक्त दक्षिण के कदम्ब, चालुक्य, राष्ट्रकूट, रट्ट, पल्लव, सन्तार आदि अनेक प्राचीन राजवंशों द्वारा इस धर्म की उन्नति और ख्याति हुई, ऐसा लेखों से सिद्ध हो चुका है। पर यह सब ऐतिहासिक सामग्री अंग्रेजी में 'एपीग्राफिआ इण्डिका' 'एपीग्राफिआ कर्नाटिका' 'इण्डियन एन्टीकेरी' 'आँर्किलाजिकल सर्वे रिपोर्ट' आदि भारी भारी पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी है जो हिन्दी के पाठकों

की पहुंच के परे होने के कारण व अनेक अंग्रेजी जानने वालों को समयाभाव व साधनाभाव के कारण बहुतायत से साधारण व्यक्तियों के परिचय में नहीं आई है। आवश्यकता है कि वह सब एकत्रित कर सुलभ और सर्वोपयोगी बनाई जावे।

संयुक्त प्रान्त।

संयुक्त प्रान्त की जैनियों के लिये ऐतिहासिक प्राचीनता और धार्मिक महत्ता बहुत भारी है। यह भूमि इतिहासातीत काल में कितने ही तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप ज्ञान व निर्वाण कल्याणकों से पवित्र हुई है। 'अयोध्या' पांच तीर्थंकरों की जन्म-नगरी है। इस काल के धर्म-नायक जैन-धर्म प्रचारक श्री आदिनाथ भगवान् का जन्म इसी नगरी में हुआ था। 'बनारस' में श्री सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ तीर्थंकर जन्मे थे। और यहां से निकट ही 'चन्द्रपुरी' चन्द्र प्रभु की व सिंहपुरी (सारनाथ) श्रेयांसनाथ की जन्म भूमि है। 'हस्तिनापुर' की पवित्रता से कौन जैनी अपरिचित होगा। यहां शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ व अरहनाथ तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान चार चार कल्याणक हुए हैं। यहीं के राजा 'श्रेयांस' ने आदिनाथ भगवान् को सब से प्रथम आहार देकर आहार दान की विधि का प्रचार किया था। 'अहिच्छत्र' श्री पार्श्वनाथ भगवान् की वह तपोभूमि है जहां उन्होंने पापी 'कमठ' के घोर उपसर्गों को सहा था। 'प्रयाग' के विषय में कहा जाता है कि यहां आदिनाथ भगवान् ने तप किया था[1]' व यहां से समीप ही जैनियों

---

१ दिगंबर जैन डायरेक्टरी

की प्रसिद्ध नगरी 'कौशाम्बी' है जहां पद्मप्रभ तीर्थंकर का जन्म हुआ था व जिनके तप और ज्ञान कल्याणक निकटवर्ती 'प्रभाक्षेत्र' नामक पर्वत पर हुए थे। 'पद्मप्रभ' के नाम से ही यह स्थान अब पपौसा व फफौसा कहलाता है। इसी प्रकार किष्किन्धापुर (खुखुन्दो), रत्नपुरी कास्पिला आदि अतिशय क्षेत्र इस प्रांत में विद्यमान हैं। अंतिम केवली जम्बू स्वामी की निर्वाण भूमि भी इसी प्रांत के भीतर मथुरा के पास चौरासी नामक स्थान पर है जहां अब भी उनके नाम का विशाल मंदिर बना हुआ है। इनमें से कई नगरों में अब भी कुछ न कुछ जैन स्मारक पाये जाते हैं। पर अब तक जितने प्राप्त हुए हैं वे प्रान्त की प्राचीनता व जैन धर्म से घनिष्ठता को देखते हुए कुछ भी नहीं है। हमें पूर्ण आशा है कि यदि विधिपूर्वक खोज की जाय तो असंख्यात जैन स्मारक मिल सकते हैं जिनसे जैन इतिहास का मुख उज्ज्वल हो सकता है व जैन पुराणों की प्रमाणिकता सिद्ध हो सकती है। कौशाम्बी के ही विषय में सर विन्सेन्ट स्मिथ का मत देखिये। वे अपने एक लेख में लिखते हैं ‡

‡ "I feel certain that the remains at Kosam in the Allahabad district will prove to be Jain for the most part and not Buddhist as Cunningham supposed. The village undoubtedly represents the Kausambi of the Jains and the site where Jain temples exist is still a place of pilgrimage for the votaries of Mahavira. I have shown good reason for believing that the Buddhist Kausambi was a different place (J. R. A. S., July 1898). I commend the study of the antiquities at Kosam to the special attention of the Jain community".

'मुझे पूर्ण विश्वास है कि अलाहाबाद जिले के कोसम नामक ग्राम के खण्डहर इत्यादि बहुतायत से जैन स्मारक सिद्ध होंगे, न कि बौद्ध, जैसा कि कनिंघम ने अनुमान किया था। यह ग्राम निश्चय से जैन कौशाम्बी है। जिस स्थान पर मन्दिर बने हैं वह अब भी महावीर के उपासकों (जैनियों) का तीर्थ-स्थान है। मैंने बौद्धों की कौशाम्बी अन्यत्र रही है, इसका ठीक ठीक कारण बतला दिया है। मैं कौशाम्बी के प्राचीन स्मारकों का जैन समाज द्वारा विशेष-रूप से अध्ययन किये जाने की सम्मति देता हूं।" जैनियों द्वारा खोज के सम्बन्ध में स्मिथ साहब के विचार ध्यान देने और कार्य में परिणत करने के योग्य हैं। उनकी राय में †

---

† "The field for exploration is vast, At the present day the adherents of the Jain religion are mostly to be found in Rajputana and Western India. But it was not always so. *In olden days the creed of Mahavira was far more widely diffused than it is now.* In the 7th century A. D., for instance, that creed had numerous followers in Vaisali (Basenti, north of Patna) and in Eastern Bengal, localities where its adherents are now extermely few. I have myself seen abundant evidences of the former prevalence of Jainism in Bundelkhand during the mediaeval period especially in the 11th and the 12th centuries. Jain images in that country are numerous in places where a Jain is now never seen. Further south, in the Deccan, and the Tamil countries, Jainism was, for centuries, a great and ruling power in regions where it is now almost unknown."

'खोज का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है। आजकल जैन धर्म के पालने वाले बहुतायत से राजपुताना और पश्चिम-भारत में ही पाये जाते हैं। पर सदैव ऐसा नहीं था। प्राचीन समय में यह महावीर का धर्म आजकल की अपेक्षा कहीं बहुत अधिक फैला हुआ था। उदाहरणार्थ, ईसा की ७ वीं शताब्दि में इस धर्म के अनुयायी वैशाली और पूर्व बंगाल में बहुत संख्या में थे। पर वहां आज बहुत ही कम जैनी हैं। मैंने स्वयं बुन्देलखंड में वहां ११ वीं और १२ वीं शताब्दि के लगभग जैन धर्म के प्रचार के बहुत से चिह्न पाये। इस देश के कई ऐसे स्थानों पर बहुत सी जैन मूर्तियां पाई जाती हैं जहां अब एक भी जैनी कभी दिखाई नहीं पड़ता। दक्षिण में आगे को बढ़िये तो जिन तामिल और द्राविड़ देशों में शताब्दियों तक जैन धर्म का शासन रहा है वहां वह अब अज्ञात ही सा हो गया है'। और भी उनका कहना है* :—

'मुझे निश्चय है कि जैन स्तूप अब भी विद्यमान हैं और यदि अन्वेषण किया जाय तो मिल सकते हैं। उनके पाये जाने की सम्भावना और स्थानों की अपेक्षा राजपुताने में अधिक है'। केवल आर्किलाजिकल सर्वे रिपोर्ट के सफे उलटने से ही पता चल जाता है कि जगह जगह, गांव गांव में, प्राचीन सभ्यता की झलकें हैं। अगर लोगों में प्राचीन स्मारकों के खोज करने की रुचि आ जावे तो थोड़े ही समय में न जाने कितनी ऐतिहा-

---

* 'I feel certain that Jain stupas must be still in existence and that they will be found if looked for. They are more likly to be found in Rajputana than elsewhere'.

सिक सामग्री एकत्रित हो जावे और कितनी विवाद-ग्रस्त बातों का निर्णय हो जाय। कभी कभी प्राचीन लेख की एक ही लकीर व प्राचीन मूर्ति के एक ही टुकड़े से बड़े बड़े महत्वपूर्ण प्रश्न हल हो जाते हैं।

अब पाठकों को विदित हो गया होगा कि इन पुराने खंडहरों, टूटी फूटी मूर्तियों व अस्पष्ट, अपरिचित लिपियों में लिखे हुए शिला लेखों आदि में कैसा रहस्य, कैसा ज्ञान का भंडार, कैसी गौरव और कीर्ति की कुंजियां छुपी हुई रहती हैं। अतः प्रत्येक समाज-हितैषी, धर्म-प्रेमी, इतिहास-प्रेमी व देश प्रेमी का कर्तव्य है कि ऐसे स्मारकों का थोड़ा बहुत परिचय अवश्य रक्खे और अवसर पड़ने पर मूर्तियों पर के लेखों व उनकी प्राचीनता के चिह्न, व अन्य स्थानों पर के लेखों, पुरानी कारीगरी के नमूनों व मन्दिरों आदि के भग्नावशेषों पर विशेष ध्यान दें, उनके विषय में पूछ-ताछ करें व उनकी सूचना समाचार-पत्रों को दें। समाज में ऐसी रुचि और उत्साह जागृत करने में, मेरा निश्चय है, यह ब्रह्मचारी जी की पुस्तक कार्यकारी होगी व ऐसी पुस्तकों की संख्या बढ़ाने में दूसरों को भी प्रोत्साहित्त करेगी।

मेरी राय में अब समय आ गया है कि एक 'जैन रिसर्च सोसाइटी' अर्थात् जैन-पुरातत्व-शोधक समाज का संगठन किया जाना चाहिये, जिसके सदस्य धार्मिक, साहित्यसम्बंधी, सामाजिक व ऐतिहासिक प्राचीन बातों का विशेष रूप से शोध करें व इस संबन्ध की दूसरों द्वारा की हुई शोधों का सर्व-साधारण में प्रचार करें। कुछ समय हुआ दि० जैन महा-

सभा ने जैन इतिहास विभाग स्थापित किया था। उसमें सबसे अधिक उत्साह से कार्य बाबू बनारसीदास एम. ए. ने किया। उन्होंने जैन इतिहास सीरीज नं० १ की पुस्तक बड़े परिश्रम से तैयार की जिससे जैन धर्म की प्राचीनता के विषय पर बहुत प्रकाश पड़ा और कितने ही भ्रम दूर हुए। पर अब इस विभाग का कार्य बिलकुल मंद पड़ गया है। महासभा का कर्तव्य है कि वह इस सोसाइटी की फिर व्यवस्था करे। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अब तक की जैन स्मारकों की खोजों के विवरण अंग्रेजी-पत्रों में बिखरे पड़े हैं। सोसाइटी का काम होगा कि वह उन्हें सिलसिलेवार संग्रह-रूप देशी भाषाओं में प्रकाशित करे व इसके लिये एक स्वतन्त्र मासिक, द्विमासिक या त्रैमासिक पत्र निकाले। अब तक गवेषणाओं में जैनियों ने बहुत कम भाग लिया है, पर अब ऐसी उदासीनता से कार्य नहीं चलेगा। जो खोज विदेशी विद्वानों द्वारा, उनके हमारी विशेष विशेष बातों से अपरिचित और अनभिज्ञ होने के कारण सैकड़ों वर्षों में होतीं हैं वे ही हम, यदि उनके समान उत्साह, प्रयत्न और युक्ति से काम लें तो, महीनों व दिनोंमें कर सकते है। इस कार्य से ऐतिहासिक ज्ञान की वृद्धि, समाज की उन्नति और धर्म की प्रभावना होगी। इसलिये सब भाइयों को इसमें योग देना चाहिये। जिन्हें पूर्व पुण्य के उदय से लक्ष्मी प्राप्त है उनकी इस ओर रुचि जाना नितान्त आवश्यक है। इस विषय में सर विन्सेन्ट स्मिथ के कुछ शब्द उद्धृत करने योग्य हैं। वे लिखते हैं†:—

† "My desire is that members of the Jain commu-

"मेरी अभिलाषा है कि जैन समाज के सदस्य, और विशेषतः धनी सदस्य, जिनके पास व्यय करने को द्रव्य है, पुरातत्वानुसन्धान में रुचि लेने लगें और विशेष रूप से अपने ही धर्म और समाज के इतिहास के संबंध में खोज कराने के लिये कुछ द्रव्य व्यय करें!"

अन्त में जो अन्वेषक व लेखक प्राचीन स्मारकों के परिचय व विवरण लिखें उनके लिये उपयोगी सर विंसेन्ट स्मिथ के कुछ वाक्य उद्धृत कर मैं इस भारी भूमिका को समाप्त करूंगा*:—

---

nity, and more specially the wealthy members with money to spare, should interest themselves in archaeological research and spend money on its prosecution with special reference to the history of their own religion and people."

* "Much may be done by careful registration and description of the Jain monuments above ground which, of course, should be studied in connection with the Jain scriptures and the notices recorded by the Chinese pilgrims and other writers. In order to obtain satisfactory results, the persons who undertake such registration and survey, should make intelligent use of existing maps, should clearly describe the topographical surroundings, should record accurate measurements and should make free use of photography. Such a survey even without the help of excavation, should throw much light upon the history of Jainism and specially on the story of the decline of the religion in wide regions where it once had crowds of adherents."

'पृथिवी-तल पर बिखरे हुए जैन स्मारकों के सावधानता पूर्वक परिचय और विवरण लिखकर भी बहुत कुछ किया जा सकता है। फिर जैन ग्रन्थों और चीनी यात्रियों व अन्य लेखकों के वर्णनों के प्रकाश में इनका सूक्ष्म अध्ययन किया जाना चाहिये। जो लोग ऐसे परिचय लिखें व अन्वेषण करें उन्हें इस कार्य में अच्छी सफलता प्राप्त करने के लिये प्रचलित नक्शों का बुद्धि पूर्वक उपयोग करना चाहिये, हर एक स्थान के आस पास के समस्त चिन्हों का विशद वर्णन करना चाहिये, ठीक ठीक माप लिखना चाहिये और फोटोग्राफी का खूब उपयोग करना चाहिये। ऐसे विवरण (survey) बिना खुदाई की सहायता के ही जैन धर्म के इतिहास पर, और विशेष कर इस धर्म के उन क्षेत्रों में ह्रास के इतिहास पर जहां कि किसी समय समूह के समूह लोग इस धर्म के अनुयायी थे, बहुत प्रकाश डालेंगे।'

मध्यप्रदेश।

मध्यप्रदेश दो भागों में बटा हुआ है:—(१) मध्यप्रान्त खास जिसमें १८ जिलें हैं, और (२) बरार जिसमें चार जिले हैं। मध्यप्रान्त खास को गौंडवाना भी कहते हैं, कारण कि एकतो यहां गोंड़ों की संख्या बहुत ही अधिक है, दूसरे मुसलमानी समय के लगभग यहां अनेक गौंड घरानों का राज्य रहा है। यह प्रान्त संस्कृति में बहुत पिछड़ा हुआ गिना जाता है, और लोगों का ख्याल है कि इस प्रान्त का इतिहास कुछ महत्वपूर्ण नही रहा। पर यह लोगों की भारी भूल है। यथार्थ में भारत के

प्राचीन इतिहास में इस प्रान्त का बहुत ऊंचा स्थान है। प्राचीन ग्रन्थों और शिलालेखों से सिद्ध होता है कि यह प्रान्त कोशल देशका दक्षिणी भाग था। इसीसे यह दक्षिण कोशल कहा गया है। इसके ऊपर उत्तर कोशल था। दक्षिण कोशल का विस्तार उत्तर कोशल से अधिक होने के कारण उसे महा-कोशल भी कहते थे। कलचुरि नरेशों के शिलालेखों में इसका यही नाम पाया जाता है। इस प्रान्त का पौराणिक नाम दण्ड-कारण्य है जो विन्ध्य और सतपुड़ा के रमणीय वनस्थलों से व्याप्त है। रामायण-कथा-पुरुष रामचन्द्रने अपने प्रवास के चौदह वर्ष व्यतीत करने के लिये इसी भूभाग को चुना था। उस समय यहां अनेक ऋषि-मुनियों के आश्रम थे, और वानरवंशी राजाओं का राज्य था। वाल्मीकि रामायण में इन राजाओं को पुछल्ले वंदर ही कहा है, पर जैन पुराणानुसार ये राजा वंदर नहीं थे, किन्तु उनकी ध्वजाओं पर वानर का चिन्ह होने से वे वानर वंशी कहलाते थे। उनकी सभ्यता चढ़ी बढ़ी थी और वे राजनीति, युद्धनीति आदि में कुशल थे। वे जैन धर्मका पालन करते थे। इन्हीं राजाओं की सहायता से रामचन्द्र रावण को परास्त करने में सफलीभूत हो सके थे।

कुछ खोजों और अनुमानों पर से आज कल कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि रावण का राज्य इसी प्रान्त के अन्तर्गत था। इसका समर्थन इस प्रान्त से सम्बन्ध रखने वाली एक पौराणिक कथासे भी होता है। महाभारत और विष्णुपुराण में यहां के एक बड़े योगी नरेश का उल्लेख है। इनका नाम था कार्तवीर्य व सहस्त्रार्जुन। इन्होंने अनेकों जप, तप और यज्ञ

करके अनेक ऋद्धियां-सिद्धियां प्राप्त की थीं। इनकी राजधानी नर्मदानदी के तट पर माहिष्मती (मंडला) थी। एकवार यह राजा अपनी स्त्रियों के साथ नदी में जलक्रीडा कर रहा था। कल्लोल में उसने अपनी भुजाओंसे नर्मदानदी का प्रवाह रोक दिया जिससे नदी का पानी ठिल गया। ऊपर एक स्थान पर रावण शिवपूजन कर रहा था। नदी की धारा उच्छृंखल होकर बह निकलने से रावण की सब पूजा-पत्री बह गई। इस पर रावण बहुत क्रोधित हुआ और उसने कार्तवीर्य पर चढ़ाई कर दी। पर कार्तवीर्य ने उसे परास्त कर कैद कर लिया और बहुत समय तक अपने बंदीगृह में रखा। इसका उल्लेख कालिदास कवि ने अपने रघुवंश में इस प्रकार किया हैः—

ज्याबंध-निष्पन्द-भुजेन यस्य विनिश्वसद्वक्त्रपरम्परेण।
कारागृहे निर्जित-वासवेन लंकेश्वरेणोषितमाप्रसादात्॥

अर्थात्, जिस लंकेश्वर ने इन्द्र को भी पराजित किया था वही कार्तवीर्य के कारागार में मौर्वीसे भुजाओं में बंधा हुआ और अपने अनेक मुखों से बड़ी बड़ी सांसे लेता हुआ कार्तवीर्य की प्रसन्नता होने तक रहा।

ऐतिहासिक काल में इस प्रान्त का सबसे प्राचीन सम्बन्ध मौर्य साम्राज्य से था। जबलपूर के पास रूपनाथ में जो अशोक साम्राट् का लेख पाया गया है उससे सिद्ध होता है कि आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व यह प्रान्त मौर्य साम्राज्य के अंतर्गत था। चन्द्रगुप्त मौर्य और भद्रबाहुस्वामी उज्जैन से निकलकर इसी प्रान्त में से होते हुए दक्षिण को गये होंगे। उस समय

यहां जैन धर्म का खूब प्रचार हुआ होगा। विक्रम की चौथी शताब्दि से लगाकर आगे के अनेक राजवंशों के यहां शिलालेख, ताम्रपत्र आदि मिले हैं। डॉ. विन्सेन्ट स्मिथ का अनुमान है कि समुद्रगुप्त अपनी दिग्विजय के समय सागर, जबलपुर और छत्तीसगढ में से होकर दाक्षिण की ओर बढ़े थे। उस समय चांदा जिले में बौद्ध राजाओं का राज्य था। पांचवीं छठवीं शताब्दि के दो राजवंश भारत के इतिहास में अपने ढंग के विलक्षण ही थे। इनमेंसे एक पारिव्राजक महाराज कहलाते थे। इनका राज्य जबलपुर के आसपास था। दूसरे महर्षि-राज्यकुल-नरेश थे, जिनका राज्य छत्तीसगढ़ में था। इसी समय जबलपुर के पास उच्छकल्प के महाराजा भी राज्य करते थे। इनकी राजधानी आधुनिक उच्छहरा थी। मध्यप्रांत का सबसे बड़ा राजवंश कलचुरि वंश था, जिसका प्राबल्य आठवीं नौवीं शताब्दि में बहुत बढ़ा। शिलालेखों में इस वंश की उत्पत्ति उपर्युक्त सहस्रार्जुन व कीर्तवीर्य से बतलायी गई है। एक समय कलचुरि साम्राज्य बंगाल से गुजरात और बनारस से कर्नाटक तक फैल गया था, पर वह साम्राज्य बहुत समय तक स्थायी नहीं रह सका। क्रमशः इस वंशकी दो शाखाएँ हो गईं। एक शाखा की राजधानी जबलपुर के पास त्रिपुरी थी जिसे चेदि भी कहते हैं, और दूसरी बिलासपुर जिले के रतनपुर में। यद्यपि कलचुरि नरेशों का राज्य बहुत समय तक बना रहा, पर तीन चार शताब्दियों के पश्चात् उसका जोर बहुत घट गया।

कलचुरि नरेश प्रारम्भ में जैन धर्म के पोषक थे। पांचवीं

छठवीं शताब्दि के अनेक पाण्ड्य और पल्लव शिलालेखों में उल्लेख है कि कलभ्र लोगोंने तामिल देश पर चढाई की और चोल, चेर और पाण्ड्य राजाओं को परास्त कर अपना राज्य जमाया। प्रोफेसर रामस्वामी अय्यन्गार ने वेल्विकुडि के ताम्रपत्र तथा तामिल भाषा के 'पेरियपुराणम्' से सिद्ध किया है कि ये कलभ्रवंशी प्रतापी राजा जैन धर्म के पक्के अनुयायी थे (Studies in South Indian Jainism, P. 53-56)। इनके तामिल देशमें पहुंचने से वहां जैन धर्म की बड़ी उन्नति हुई इनके एक राजा का नाम या उपनाम 'कल्वरकल्वम्' था। इन नरेशों के वंशज अब भी विद्यमान हैं और वे कलार कहलाते हैं। श्रीयुक्त अय्यन्गारजी का अनुमान है कि ये 'कलभ्र' आर्य नहीं, द्राविण जाति के होंगे। पर अधिक सम्भव यह प्रतीत होता है कि ये 'कलभ्र' कलचुरि वंश की ही शाखा होंगे। कलचुरि संवत् सन् २४८ ईसवी से प्रारम्भ होता है। अतएव पांचवीं शताब्दि में इनका दक्षिण पर चढाई करना असम्भव नहीं है। अय्यन्गारजी का अनुमान है कि सम्भवतः दक्षिण के जैनियों ने ही शैव राजाओं से त्रासित होकर कलभ्र राजा को दक्षिण पर चढ़ाई करने के लिये आमन्त्रित किया था। इस विषय पर अभी बहुत थोड़ा प्रकाश पड़ा है। इसकी खोज होने की अत्यन्त आवश्यकता है। ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दि का जो उदयगिरि से कलिंग के जैन राजा खारवेल का लेख मिला है उसमें खारवेल के साथ 'चेतराज-वस-वधन' विशेषण पाया जाता है। इसकी संस्कृत छाया 'चैत्रराजवंशवर्धन' की जाती है। पर वह 'चेदिराजवंशवर्धन' भी हो सक्ता है, जिससे खारवेल

का कलचुरि-वंशीय होनेका भी अनुमान किया जा सकता है। अन्य कितने ही कलचुरि नरेशों ने अपने को 'त्रिकलिंगाधिपति' कहा है। आश्चर्य नहीं जो खारवेल का कलचुरि वंश से संबन्ध हो। प्रोफेसर शेषगिरिराव का भी ऐसा ही अनुमान है †।

मध्यप्रान्त के कलचुरि नरेश जैन धर्म के पोषक थे। इसका एक प्रमाण यह भी है कि उनका राष्ट्रकूट नरेशों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। और राष्ट्रकूट नरेश जैन धर्म के बड़े उपासक थे। इन दोनो राजवंशों में अनेक विवाह-सम्बन्ध भी हुए थे। उदाहरणार्थ, कृष्णराज (द्वि०) ने कोकल्लदेव (चेदिराज) की राजकुमारी से विवाह किया था। कोकल्ल के पुत्र शंकरगण की दो राजकुमारियों को कृष्णराज के पुत्र जगत्तुंग ने विवाहा था। इसी प्रकार इन्द्रराज और अमोघवर्षने भी कलचुरि राजकुमारियों से विवाह किया था। एक कलचुरि नरेश के राष्ट्रकूट राजकुमारी को विवाहने का भी उल्लेख है। कलचुरि राजधानी त्रिपुरी और रतनपुरमें अब भी इनके समय की अनेक प्राचीन जैन मूर्तियां और खण्डहर विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त कलचुरिवंश के बड़े प्रतापी नरेश विजय (विजयसिंह देव, सन् ११८०) के पक्के जैन-मतावलम्बी होने के स्पष्ट प्रमाण हैं। पर इसी राजा के समय से कलचुरि राजदरबार में जैनियों का जोर घट गया और शैवधर्म का प्राबल्य बढ़ा। इस का वर्णन "वासवपुराण" और 'विज्जलराज-चरित' में पाया जाता है। वासव एक शैव धर्म का प्रचारक था। इसीने कल-

---

† South Indian Jainism, P. 24

चुरि दरबार में जैन धर्म की जड़ उखाड़ी और विज्जल नरेश का घात भी कराया। विज्जल के दरबार में किस प्रकार जैन धर्म का ह्रास हुआ और शैव धर्म का प्रभाव बढ़ा, इसकी कथा महामण्डलेश्वर कामदेव के एक लेख में पाई जाती है। इसका सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने उल्लेख किया है। वह कथा संक्षेप में इस प्रकार है:—

एक समय शिव और पार्वती अपनी जमात सहित कैलाश पर्वत पर क्रीड़ा कर रहे थे। उसी समय नारद मुनिने आकर यह संवाद सुनाया कि संसार में जैन और बौद्ध धर्मों की बहुत शक्ति बढ़ती जा रही है। इस पर शिव ने अपनी जमात के 'वीरभद्र' को आज्ञा दी कि तुम जाकर संसार में मनुष्य जन्म ग्रहण करो और इन धर्मों की जड़ उखाड़ो। तदनुसार वीरभद्रने पुरुषोत्तम पन्न के यहां जन्म लिया। बालक का नाम 'राम' रखा गया, पर पीछे से शिव में बड़ी भक्ति होने से उसका नाम 'एकान्त रामय्य' पड़ गया। इसने शैव धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। तब जैनियों ने उसे अपने देव की कुछ प्रभुता सिद्ध करने की चुनौती दी। जैनियों ने यह वचन दिया कि यदि रामय्य अपना कटा हुआ सिर शिव की सहायता से पुनः प्राप्त करले, तो वे अपने सब मंदिरों आदि को छोड़ कर देश से बाहर चले जावेंगे। रामय्य ने इसे स्वीकार किया। सिर काट डाला गया, पर, आश्चर्य, दूसरे ही दिन वह फिर जैनियों के सामने आखड़ा हुआ। जैनियों ने इस पर भी उसका विश्वास नहीं किया और वे अपना वचन पूरा करने के लिये तैयार नहीं हुए। रामय्य क्रोधित होकर जैन मंदिरों को विध्वंस करने लगा।

इसका समाचार विज्जल नरेश के पास पहुँचा। वे रामय्य पर बहुत कुपित हुए। पर रामय्य ने वही अद्भुत चमत्कार उनके सामने भी कर दिखाया। तब तो राजा को रामय्य के देव में विश्वास हो गया, और उन्होंने जैनियों को दरबार से अलग कर उन्हें शैवों के साथ झगड़ा न करने की सख्त ताकीद कर दी।

यह मध्यप्रान्त में जैनधर्म के ह्रास और शैव धर्म की वृद्धि का, हिन्दू पुराणों के अनुसार, वृत्तान्त है। इसमें सत्य तो जो कुछ हो, पर इसमें संदेह नही कि इस समय से यहां और दक्षिण भारत में जैनधर्म को शैवधर्म ने जर्जरित कर डाला। आगे मुसलमानी काल में भी इस धर्म की भारी क्षति हुई और उसे उन्नति का अवसर नहीं मिल सका। जैन धर्म राजाश्रय विहीन होकर क्षीण अवश्य हो गया, पर उसका सर्वथा लोप न हो सका। स्वयं कलचुरि-वंश में जैन धर्म का प्रभाव बना ही रहा। मध्यप्रान्त में जो जैन कलवार सहस्रों की संख्या में पाये जाते हैं, वे इन्हीं कलचुरियों की संतान हैं। अनेक भारी मन्दिर जो आजतक विद्यमान हैं वे प्रायः इसी गिरती के समय में निर्माण हुए हैं। जैनियों के मुख्य तीर्थ इस प्रान्त में बैतूल जिले में मुक्तागिरि, निमाड़ जिले में सिद्धवर-कूट और दमोह जिले में कुंडलपुर हैं। मुक्तागिरि, अपरनाम मेढागिरि, और सिद्धवरकूट सिद्ध-क्षेत्र हैं, जहां से प्राचीन काल में सैकड़ों मुनियों ने मोक्ष पद प्राप्त किया है। मुक्तागिरि में कुल अड़तालीस मन्दिर हैं जिनमें मूर्तियों पर विक्रम की चौदहवीं शताब्दि से लगाकर सत्तरहवीं शताब्दितक के उल्लेख हैं। इन मन्दिरों में पांच बहुत प्राचीन प्रतीत होते हैं, और सम्भवतः बारहवीं, तेरहवीं शताब्दि

के हैं। सिद्धवरकूट के प्राचीन मन्दिर ध्वंस अवस्था में हैं। कुछ मूर्तियों पर पन्द्रहवीं शताब्दि के तिथि-उल्लेख हैं। कुण्डलपुर के मन्दिरों की संख्या ५२ है। मुख्य मन्दिर में महावीर स्वामी की बृहत् मूर्ति है, और १७ हवीं शताब्दिका शिलालेख है। मन्दिरों से अलंकृत पर्वत कुण्डलाकार है। इसी से इसका नाम कुण्डलपुर पड़ा है। पर कई भाइयों को इससे महावीर स्वामी की जन्मनगरी कुन्दनपुर का भ्रम होता है। इन तीनों क्षेत्रों का प्राकृतिक सौन्दर्य बड़ा ही चित्तग्राही और प्रभावोत्पादक है।

बरार।

इसका प्राचीन नाम 'विदर्भ' पाया जाता है। पं० तारानाथ तर्कवाचस्पति ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है:- विगताः दर्भाः कुशाः यतः' अर्थात् जहां दर्भ न ऊगें। पर यह निरी व्याकरण की खींचातानी ही प्रतीत होती है। यह भी दन्तकथा है कि यहां विदर्भ नामका राजा हो गया है, इसी से इसका नाम विदर्भ देश पड़ा। इसका समर्थन 'भागवत पुराण' से भी होता है। भागवत पुराण के पांचवे स्कन्ध में ऋषभ देव महाराज का वर्णन है। वहां कहा गया है कि ऋषभदेवने अपने कुल राज्य के नव हिस्से कर उन्हें अपने नव पुत्रों में वितरण कर दिये। कुश नाम के पुत्र को जो भाग मिला वह कुशावर्त कहलाया। ब्रह्म को जो देश मिला उसका नाम ब्रह्मावर्त पड़ा। इसी प्रकार विदर्भ नामक कुमार को जो प्रदेश मिला वह विदर्भ देश कहलाया। जैन पुराणों में ऐसा कथन नहीं है। आजकल

इस देश को वन्हाड कहते हैं जो विदर्भ का ही अपभ्रंश है। पर वन्हाड की व्युत्पत्ति के विषय में भी अनेक दन्त-कथाएं, अनुमान और तर्क लगाये जाते हैं। कोई कहता है वरयात्रा व 'वरहाट' व 'वरात' से बन्हाड बना है। इसका सम्बन्ध कृष्ण और रुक्मिणी के विवाहकी वरात से बतलाया जाता है। कोई वर्धाहार व वर्धातट-अर्थात् वर्धा के पास का देश-से वन्हाड रूप सिद्ध करता है। कोई विराट व वैराट राजा से वन्हाड का सम्बन्ध स्थापित करता है, इत्यादि। पर ये सब निरी कल्पनाएं ही प्रतीत होती हैं।

विदर्भ देशका उल्लेख रामायण और महाभारत में अनेक जगह पाया जाता है। अगस्त्य ऋषि की पत्नी लोपामुद्रा, इक्ष्वाकुवंश के राजा सगर की रानी केशिनी, अजकी रानी इन्दुमती, नलराजा की रानी दमयन्ती, कृष्ण की रानी रुक्मिणी, प्रद्युम्न की रानी शुभांगी, अनिरुद्ध की रानी रुक्मावती, ये सब विदर्भ देश की ही राजकुमारियां थीं। रुक्मिणी भीष्मक राजा की कन्या व रुक्मी की बहिन थी। भीष्मक की राजधानी कौण्डिन्यपुर थी, जिसका आधुनिक नाम कुंडिनपुर है। यह अमरावती से करीब बीस मैल है। कहा जाता है कि आधुनिक अमरावती उस समय में कौण्डिन्यपुर के ही अंतर्गत थी। अमरावती में जो अम्बिका देवी की स्थापना है वह कौण्डिन्यपुरकी अधिष्ठात्री देवी कही जाती है। यहीं पर रुक्मिणी अम्बिकादेवी की पूजा करने आई थीं और यहीं से कृष्ण ने उसका अपहरण किया था। रुक्मिणी का भाई रुक्मी जब कृष्ण से पराजित हो गया और रुक्मिणी को वापिस नहीं ले सका तब वह बहुत

लज्जित हुआ। लज्जा के मारे उसने कौण्डिन्यपुर को जाना ही उचित नहीं समझा। उसने एक दूसरे ही स्थान पर अपनी राजधानी बनाई। इसका नाम उसने भोजकट (भोजकटक) रखा। इस स्थान का नाम आजकल भातकुली है जो अमरावती से दस मील है। यहां जैनियों का बड़ा प्राचीन मन्दिर है और वार्षिक मेला लगता है।

विक्रम की ८ वीं ९ वीं तथा १० वीं शताब्दि में विदर्भ क्रमशः चालुक्य और राष्ट्रकूट राजाओं के राज्य में सम्मिलित था। ये दोनों ही राजवंश जैन धर्म के पोषक थे और इस लिये उक्त शताब्दियों में यहां जैन धर्म का खूब प्रचार रहा। कहा जाता है कि मुसलमानों के आगमन से प्रथम दशवीं शताब्दि के लगभग वऱ्हाडान्तर्गत एलिचपूर में 'ईल' नाम का एक जैन धर्मी राजा राज्य करता था। उसने वि० सं० १००० में अपने नाम से ईलिचपुर (ईलेशपुर) शहर बसाया। एक बार ईल राजा ने एक मुसलमान फकीर के साथ बुरा वर्ताव किया। इसका समाचार गज़नी के तत्कालीन राजा शाह रहमान के पास पहुंचा। उस समय शाह रहमान का विवाह हो रहा था। उसको फकीर के अपमान से इतना बुरा लगा कि उसने अपना विवाह छोड़कर ईल राजा पर चढ़ाई कर दी। इसीसे उसका नाम दूल्हा रहमान पड़ा। उसके और ईल के बीच घोर युद्ध हुआ, जिसमें दोनों ही राजा काम आये। मुसलमानों के ग्यारह हजार योद्धा इस युद्ध में मारे गये। पर अन्तमें मुसलमानों की जीत हुई। युद्ध में मारे गये। योद्धा सब एक ही स्थानपर दफन किये किये गये, और उस स्थान पर एक इमारत बनवाई गई। यह

इमारत अब भी विद्यमान है और 'गंजी शहीदा' नाम से प्रसिद्ध है। पास ही शाह दूल्हा रहमान की कब्र भी बनी हुई है।

उक्त कथा का उल्लेख 'तवारीख-इ-अमजदी' में पाया जाता है। पर अन्य कोई पुष्ट प्रमाण इस वृत्तान्त के अभीतक नहीं पाये गये। सम्भव है कि दशवीं शताब्दि के लगभग यहां इस नाम का कोई जैनी राजा राज्य करता रहा हो। पर एलिचपुर उसका बसाया हुवा है यह बात कदापि नहीं मानी जा सकती। अनेक ग्रन्थों और शिलालेखों में इस नगर का प्राचीन नाम अचलपुर (अच्चलपुर) पाया जाता है। इस नगर के पास ही जो मुक्तागिरि नाम का सिद्ध-क्षेत्र है, वहां की कई मूर्तियों पर यह नाम खुदा हुआ पाया जाता है। यह नाम 'निर्वाणकाण्ड' ग्रंथ में भी आया है. यथा 'अच्चलपुर-वरणयरे' इत्यादि 'अच्चलपुर' का ही अपभ्रंश अलचपुर (एलिचपुर) है और यह नाम विक्रम की १२ वीं शताब्दि में सुप्रचलित हो गया था। उस समय के एक बड़े भारी वैयाकरण हेमचन्द्राचार्यने अपने व्याकरण सिद्ध-हेमचन्द्र में इस नामकी उत्पत्ति करने के लिये एक स्वतंत्र सूत्र की ही रचना की है। वह सूत्र है 'अचलपुरे चलोः' (८, ११८) इसकी वृत्ति करते हुए कहा गया है-'अचलपुर-शब्दे चकार-लकारयोः व्यत्ययो भवति अचलपुरम्'। इससे स्पष्ट है कि उस समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् इतिहासज्ञ और वैयाकरण ईल राजा से इलिचपुर नामकी उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करते थे।

विदर्भ प्रान्त में संस्कृत के अनेक बड़े बड़े कवि हो गये

हैं। भारवि, दण्डी, भवभूति, गुणाढ्य, हेमाद्रि, भास्कराचार्य, त्रिविक्रमभट्ट, भास्करभट्ट, लक्ष्मीधर, आदि, संस्कृत के अमर कवियों का विदर्भ से सम्बन्ध बतलाया जाता है। यहां के कवियों ने प्राचीन काल में इतनी ख्याति प्राप्त की थी कि संस्कृत साहित्य में एक रचना-शैली ही इस देश के नाम से प्रख्यात हुई। काव्यरचना में 'वैदर्भी रीति' सर्वोच्च और सर्व प्रिय मानी गई है, क्योंकि इस रीति में प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, आदि गुण विशेष रूप से पाये जाते हैं। इस देशमें अनेक जैन कवि हो गये हैं। ये कवि विशेषकर कारंजा के बलात्कारगण और सेनगण के भट्टारकों में से हुए हैं, जिनकी रचनायें वहां के शास्त्रभंडारों में ही रक्षित है। अपभ्रंश भाषा के प्रसिद्ध कवि धनपाल, जिनकी 'भविष्यदत्त-कथा' जर्मनी और बड़ौदा से प्रकाशित हो चुकी है, सम्भवतः इसी प्रान्त में हुए हैं, क्योंकि वे कवि धाकड़वंशी थे, और यह जाति इस प्रान्त में पाई जाती है। 'भविष्यदत्त-कथा' की दो अति प्राचीन प्रतियां भी इस प्रान्त के ही अन्तर्गत कारंजा के शास्त्रभण्डारों में पाई गई हैं। बुलडाना जिले के मेहकर (मेघंकर) नामक ग्राम के बालाजी के मन्दिर में एक खंडित जैन मूर्ति संवत् १२७२ की है जिसे आशाधर की स्त्री पद्मावती ने प्रतिष्ठित कराई थी। संवत् के उल्लेख से अनुमान होता है कि सम्भवतः ये आशाधर उन प्रसिद्ध जैन आचार्य 'कवि-कालिदास' आशाधरजी से अभिन्न हैं, जिनके बनाये हुए ग्रन्थों का जैन समाज में भारी आदर है। ये आशाधर बघेरवाल जाति के थे और राजपूताना में शाकम्भरी (साम्भर) के निवासी थे। मुस-

लमानों के त्रास से वे वि० सं० १२४९ में धारानगरी में और वि० सं० १२६५ में नालछे (नलकच्छपुर) में आ गये थे। उनके वि० सं० १३०० तक के बने हुए ग्रन्थों में नलकच्छपुर का उल्लेख मिलता है। पर मेहकर की मूर्ति के लेखपर से अनुमान होता है कि वि० सं० १२७५ के लगभग आशाधरजी विदर्भप्रान्त में ही रहे होंगे। वे बघेरवाल जाति के थे, और इस जाति की विशेष संख्या बरार में ही पाई जाती है। उनकी स्त्री का नाम अन्यत्र 'सरस्वती' पाया जाता है। सरस्वती और पद्मावती पर्यायवाची शब्द हैं। अतः उनका तात्पर्य एक ही व्यक्ति से हो सकता है। यह भी अनुमान होता है कि सम्भवतः आशाधरजी जब बरार में थे तभी उन्होंने अपने 'मूलाराधना-दर्पण' नामक टीका-ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ का उल्लेख उनके वि० सं० १२८५ से लगाकर १३०० तक के बने हुए ग्रन्थों की प्रशस्तियों में पाया जाता है, और वि० स० १२७५ से पूर्व के ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। इस ग्रन्थ की प्रति भी अबतक केवल बरार प्रान्तान्तर्गत कारंजा में ही पाई गई है, अन्यत्र नहीं। इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि आशाधरजी ने वि० सं० १२७५ के लगभग कुछ काल बरार प्रांत में निवास किया और ग्रन्थरचना भी की।

बरारप्रान्त में जैनियों का मुख्य स्थान अकोला जिले में कारंजा है। यहां लगभग चार पांच सौ वर्ष से दिगंबर संप्रदाय के भिन्न भिन्न तीन गणों के पट्टों की स्थापना है। बलात्कारगण, सेनगण, और काष्ठासंघ। इन तीनों ही गणों के मन्दिरों में एक एक भंडार है। बलात्कारगण और सेनगण के

मन्दिरों के शास्त्र-भण्डार बड़े ही विशाल और महत्व-पूर्ण हैं। इन में अनेक अप्रकाशित और अश्रुतपूर्व संस्कृत, प्राकृत व हिन्दी के ग्रन्थ हैं। इनका उद्धार होने की बड़ी आवश्यकता है।*

अकोला जिले में दूसरा जैनियों का पवित्र स्थान सिरपुर है जहां अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ का मन्दिर है।

मध्यभारत

मध्यभारत के अन्तर्गत अनेक अत्यन्त प्राचीन और इतिहास प्रसिद्ध स्थान हैं। अवंती देश की गणना भारत के प्राचीन से प्राचीन राज्यों में की गई है। जिस दिन अंतिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का मोक्ष हुवा था उसी दिन अवन्ती देश में पालक राजा का अभिषेक हुआ था। जैन ग्रन्थों के अनुसार सम्राट् चंद्रगुप्त भी अधिकांश अवन्ती (उजैनी) नगरी में ही निवास करते थे। श्रुत केवली भद्रबाहुने उज्जयिनी में ही प्रथम द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के चिन्ह देखे, और चंद्रगुप्त को तत्सम्बन्धी भविष्यवाणी सुनाई। चंद्रगुप्त सम्राट्ने यहां ही उनसे जिन दीक्षा लेली, और यहां से ही मूल जैन संघ की वह दक्षिण यात्रा प्रारम्भ हुई, जिसका केवल जैन धर्म के ही नहीं, भारतवर्ष के इतिहास पर भारी प्रभाव पड़ा। विक्रमादित्य

* कारंजा और वहां के गणों व शास्त्र मण्डारों का विशेष परिचय प्राप्त करने के लिये देखोः—(१) दिगम्बर जैन, खास अंक, वर्ष १८, वीर सं० २४५१ ' कारंजा, वहां के गण और शास्त्र मण्डार.

(२) सी. पी. गवर्न्मेंन्ट द्वारा प्रकाशित—Catalogue of Sanskrit Prakrit Mss, in C. P. and Berar.

नरेश के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों का मत है कि विक्रम संवत् के प्रारम्भ काल के समय किसी उक्त नाम के राजा का ऐतिहासिक अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। पर जैन ग्रन्थों में महावीर स्वामी के ४७० वर्ष पश्चात् उज्जैनी के राजा विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है, व उनके जीवन की बहुतसी घटनायें भी पाई जाती हैं। 'कालिकाचार्य कथानक' के अनुसार विक्रमादित्य ने महावीर स्वामी से ४७० वर्ष पश्चात् विदेशियों (शकों) से युद्ध कर उन्हें परास्त किया और अपना सम्वत् चलाया। इसके १३५ वर्ष पश्चात् शकों ने विक्रमादित्य को हराया और दूसरा संवत् स्थापित किया। स्पष्टतः उक्त दोनों संवतों का अभिप्राय क्रमशः विक्रम और शक संवत् से है। पर इन संवतों के बीच १३५ वर्ष का अंतर होने से शकों के विजेता विक्रम और उनसे पराजित होनेवाले विक्रम एक नहीं माने जा सकते। जो हो, पर अनेक जैन ग्रन्थ यह प्रमाणित करते हैं कि उस समय एक बड़ा प्रतापी विक्रमादित्य नाम का नरेश हुआ है जो जैन धर्मावलम्बी था। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि 'वैताल-पंचविंशतिका' 'सिंहासन द्वात्रिंशिका' आदि विक्रमादित्य से सम्बन्ध रखनेवाले कथानक जैनियों ने ही विशेष रूपसे अपने ग्रन्थ-भण्डारों में सुरक्षित रखे हैं।

गुप्तवंशी राजाओं के समय में यद्यपि जैनधर्मको विशेष उत्तेजन नहीं मिला, तथापि राज्य में शान्ति होने से उसका प्रचार होता रहा। इसी समय 'हूण' जाति के विदेशी लुटेरों के आक्रमण से देश की भारी क्षति हुई, और मध्यभारत में जैन धर्म की विशेष हानि हुई। जैन ग्रन्थों में इस समय के

'कल्कि' नामक राजा के निर्ग्रन्थ मुनियों पर भारी अत्याचारों का उल्लेख है। उत्तर पुराण में कहा गया है कि उसने परिग्रह-रहित मुनियों पर भी कर लगाया था। कुछ विद्वान् इस कल्कीराज को हूणवंशी, महा-दुराचारी, मिहिरकुल ही अनुमान करते हैं। कल्कि का अधर्म राज्य बहुत समय तक नहीं चला। ४२ वर्ष के अधर्म राज्य से भूतल को कलंकित कर कल्कि कुगति को प्राप्त हुआ, और उसके उत्तराधिकारियों ने पुनः धर्मराज स्थापित किया।

नौवीं दशवीं शताब्दि से मध्य भारत में जैन धर्म की विशेष उन्नति हुई और कीर्ति फैली। 'धारा' के नरेशों ने जैन धर्म को खूब अपनाया। 'महासेन सूरी' ने मुञ्जनरेश से विशेष सन्मान प्राप्त किया और उनके उत्तराधिकारी सिन्धुराज के एक महासामन्त के अनुरोध से उन्होंने 'प्रद्युम्नचरित' काव्य की रचना की। ग्वालियर रियासत के शिवपुर परगनान्तर्गत दूधकुंड से जो सं० ११४५ का शिलालेख मिला है उसमें तत्कालिक-राजवंश-परिचय के अतिरिक्त 'लाटवागट' गण के आचार्यों की परम्परा दी है। इस परम्परा के आदिगुरु देवसेन कहे गये हैं। ये देवसेन संभवतः वे ही हैं जिन्होंने सवत् ९९० में दर्शनसार नामक एक जैन ग्रन्थ की रचना की थी। इनके बनाये हुए संस्कृत, प्राकृत और भी अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं। भोजदेव के समय में अनेक प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए हैं। ब्रह्मदेव टीकाकार के अनुसार द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ के रचियता नेमिचंद्राचार्य भोजदेव के दरबार में थे। नयनन्दि आचार्य ने अपना अपभ्रंश भाषा का एक काव्य 'सुदर्शनचरित्र' भी इन्हीं के राज्य में सं० ११०० में समाप्त किया था, जैसा कि

उसकी प्रशस्ति में कहा गया है:—

तिहुवणनारायणसिरिनिकेउ। तहिं णरवरु पुंगमु भोयदेउ।
णिवविक्कमकालहो ववगएसु। एयारहसंवच्छरसएसु॥
तहिं केवलिचरिउ अमच्छरेण, णयणंदिएं विरइउ वच्छरेण।

तेरहवीं शताब्दि में आशाधर जी मुसलमानों के भय से धारा में आगये थे। धारा और नालछे में रहकर ही उन्होंने अपने अधिकांश ग्रंथों की रचना की। यह समय जैन धर्म की खूब समृद्धिका था। भेलसा के समीप का 'वेसनगर' जैनियों का बहुत प्राचीन स्थान है। वह शीतलनाथ तीर्थंकर की जन्म-भूमि होने से कल्याणक क्षेत्र है। जैन ग्रंथों में इसका नाम 'भद्दल पुर' पाया जाता है। भट्टारकों की गद्दी यहीं से प्रारम्भ होकर मान्यखेट गई थी। इसी समय मध्यभारत में, विशेषतः बुन्देल-खण्ड में, अनेक जैन मन्दिर निर्मापित हुए जिनके अब अधिकतः खण्डहर मात्र शेष रह गये हैं। खजराहा के प्रसिद्ध जैन मंदिर इसी समय के हैं। आगामी तीन चार शताब्दियों में मन्दिर-निर्माण का कार्य खूब प्रचुरता से जारी रहा। बड़े बड़े सुन्दर कारीगरी के मंदिर बनवाये गये और अनेक मूर्तियों की प्रतिष्ठायें हुईं। सोनागिरि (दतिया), बड़वानी, नयनागिरि (पन्ना), द्रोणगिरि (बीजावर आदि क्षेत्र इसी समय अनेक मंदिरों से अलंकृत हुए। सत्तरहवीं शताब्दि से यहां जैन धर्म का न्हास होना प्रारम्भ हुआ। जहां किसी समय हजारों लाखों जैनी थे वहां अब कोसों तक अपने को जैनी कहनेवाला ढूढने से नहीं मिलता; वहां अब जैन धर्म का पता उन्हीं मंदिरों के खण्डहरों और टूटी फूटी हजारों जिन मूर्तियों से चलता है।

राजपूताना

जैन धर्म आदि से क्षत्रियों का धर्म रहा है, और इसलिये इसमें कोई आश्चर्य नहीं जो क्षत्रिय भूमि राजपूताने में इस धर्म का विशेष प्रचार अत्यन्त प्राचीन कालसे पाया जाय। जैनधर्म क्षत्रियों के लिये अत्यन्त उपयोगी था। यह इसी बात से सिद्ध होता है कि ऐतिहासिक काल में ही अन्य धर्मावलम्बियों को जैनी बनाने का कार्य जितना राजपूताने में सफल हुआ उतना अन्यत्र कदाचित् ही हुआ होगा। जैनियों की प्रसिद्ध प्रसिद्ध जातियों का, जैसे, ओसवाल, खण्डेलवाल, बघेरवाल, पल्लीवाल आदि का उद्गम-स्थान राजपूताना ही है। इन जातियों को कब कौन आचार्य ने जैनी बनाया इसका बहुतसा वृत्तान्त जैन ग्रंथों में पाया जाता है। विक्रम संवत् की प्रथम ही कुछ शताब्दियों में राजपुताने में जैन धर्मका खासा प्रचार हो गया था। इसके आगे की शताब्दियों में यहां के जैनियों ने अपने अहिंसामयी धर्म के साथ साथ अपने क्षत्रिय धर्मका पूर्ण रूप से निर्वाह किया। चितौड़ का प्रसिद्ध प्राचीन कीर्तिस्तम्भ जैनियों का ही निर्माण कराया हुआ है। उदयपुर राज्य के केशरियानाथजी आदि जैनियों के ही प्राचीन पवित्र स्थान हैं जिनकी पूजा वंदना आजकल अजैन भी बड़ी भक्ति से करते हैं। सिरोही राज्य के अन्तर्गत 'आबू' के पास देलवाड़े (देवलवाड़े) के विमलशाह और तेजपाल के बनवाये हुए जैनमन्दिर कारीगरी में अपनी शानी नहीं रखते। विमलशाह के आदिनाथ मंदिर के विषय में कर्नल टाड साहब ने लिखा है कि 'यह मन्दिर भारत के संपूर्ण

देवालयों में सबसे सुंदर हैं और आगरे के ताजमहल को छोड़कर और कोई भी इमारत ऐसी नहीं है जो इनकी समता कर सके'। इस अनुपम मंदिर का कुछ हिस्सा मुसलमानों ने तोड़ डाला था जिससे वि० सं० १३७८ में लल्ल और वीजड़ नामक दो साहूकारों ने इसका जीर्णोद्धार करवाया और ऋषभदेव की मूर्ति स्थापित की। इस बात का उल्लेख जिनप्रभसूरि ने अपने तीर्थकल्प नामक ग्रन्थ में किया है।

आदिनाथ मंदिर के पास ही वस्तुपाल के छोटे भाई तेजपाल द्वारा अपने पुत्र और स्त्री के कल्याणार्थ बनवाया हुआ नेमिनाथ का मंदिर है। यही एक मंदिर है जो कारीगरी में उपर्युक्त आदिनाथ मंदिर की समता कर सकता है। इसके विषय में भारतीय भवनकला के प्रसिद्ध ज्ञाता फर्ग्यूसन साहब ने कहा है कि 'संगमर्मर के बने हुए इस मंदिर में अत्यन्त परिश्रम सहन करनेवाली हिन्दुओं की टांकी से फीते जैसी बारीकी के साथ ऐसी मनोहर आकृतियां बनाई गई हैं कि उनकी नकल कागजपर बनाने को कितने ही समय तथा परिश्रम से भी मैं समर्थ नहीं हो सका'। इसी मंदिरकी गुम्मट की कारीगरी के विषय में कर्नल टॉड साहब कहते हैं कि 'इसका चित्र तैयार करने में लेखनी थक जाती है और अत्यन्त परिश्रम करने वाले चित्रकार की कलम को भी महान् श्रम पड़ता है'। मंदिर में छोटे बड़े ५२ जिनालय है और कई लेख हैं जिनमें वस्तुपाल तेजपाल के वंश का तथा वघेल राणाओं के वंश का ऐतिहासिक वर्णन पाया जाता है। मूल गर्भगृह के द्वार के दोनों ओर बड़ी कारीगरी से बने हुए दो ताक हैं जिन्हें तेजपाल

ने अपनी दूसरी स्त्री सुहड़ादेवी के कल्याण के निमित्त बनवाया था। तेजपाल पोरवाड़ जाति के थे और लेख से सुहड़ादेवी मोढ़ जातीय महाजन जल्हण के पुत्र ठाकुर आशा की पुत्री सिद्ध होती है। इससे सिद्ध है कि उस समय मोढ़ व पोरवाड़ों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध था।

जैन समाज में अन्यत्र तो क्षत्रियत्व बहुत समय से लुप्त हो गया पर राजपूताने में वह अभी अभी तक बना रहा। राजत्व, मन्त्रित्व और सेनापतित्व का कार्य जैनियों ने जिस चतुराई और कौशल से चलाया है उससे उन्होंने राजपूताने के इतिहास में अमर नाम प्राप्त कर लिया है। आदिनाथ मंदिर के निर्मापक विमलशाह ने भीमदेव नरेश के सेनापति का कार्य बहुत अच्छी तरह से किया था। सोलहवीं शताब्दि में अकबर के भीषण यन्त्रजालमें फंसे हुए राणा प्रतापसिंह का उद्धार जिन भामाशाह की अतुल सम्पत्ति और चतुराई से हुआ था वे ओसवाल जातिके जैनी ही थे। अपने अनुपम स्वदेश-प्रेम और स्वार्थत्याग के लिये यदि भामाशाह मेवाड़ के जीवन-दाता कहे जायँ तो अत्युक्ति नहीं होगी। सन् १७८७ के लगभग मारवाड़ के महाराजा विजयसिंह के सेनापति और अजमेर के सूबेदार डूमराज ने मरहटों के प्रति घोर युद्ध कर अपनी वीरता और स्वामिभक्ति का अच्छा परिचय दिया था। ये डूमराज भी ओस-वाल जैन जाति के सिंघी कुल के नररत्न थे। इसी प्रकार गत शताब्दि के प्रारम्भिक भाग में बीकानेर राज्य के दीवान और सेनापति अमरचन्दजी ने भटनेर के खान जब्ताखां को भारी शिकस्त दी थी तथा अनेक युद्धों में अपनी वीरता का अच्छा

परिचय दिया था। सन् १८१७ ई० में पिंडारियों का पक्ष करने का झूठा दोष लगाकर उनके शत्रुओंने उनके असाधारण जीवन की असमय ही इतिश्री करा डाली। ये भी ओसवाल जाति के जैन वीर थे। और भी न जाने कितने जैन वीरों के वीरतापूर्ण जीवन चरित्र आज इतिहास की अंधेरी कोठरी में पड़े हुए हैं। इन्ही शताब्दियों में राजपूताने ने ही ढूंढ़ारी हिन्दी के कुछ ऐसे भारी जैन धार्मिक विद्वानों को पैदा किया जिन्होंने संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों पर हिन्दी में टीका और भाष्य लिखकर जनता का भारी उपकार किया है। इनमें जयचन्द्र, किसनसिंह जोधराज, टोडरमल, दौलतराम, सदासुखजी छावडा आदि के नाम प्रख्यात हैं जिनका अधिक परिचय देने की आवश्यकता नहीं। राजपूताने में अनेक जगह, जैसे, जैसलमेर, जयपुर आदि में प्राचीन शास्त्रभंडार हैं जिनका अभीतक पूरा पूरा शोध नहीं हुआ है। वह दिन जैन संसार के लिये बड़े सौभाग्य का होगा जब प्राचीन मंदिरों, खण्डहरों, मूर्तियों, शिलालेखों और ग्रन्थों के आधारपर जैन धर्म के उत्थान और पतन का जीता जागता इतिहास तैयार होकर विद्वत् समाज के सन्मुख रखा जा सकेगा। इन प्राचीन स्मारकों से पाठकों के हृदय में यह भाव उठे बिना नही रहेगा कि—

" अबतक पुराने खण्डहरों में, मन्दिरों में भी कहीं,
बहु मूर्तियां अपनी कलाका पूर्ण परिचय दे रहीं।
दिखला रही हैं भग्न भी सौंदर्य की परिपुष्टता,
दिखला रही हैं साथ ही दुष्कर्मियों की दुष्टता ॥ १ ॥
यद्यपि अतुल, अगणित हमारे ग्रन्थ-रत्न नये नये,

बहुवार अत्याचारियों से नष्ट भ्रष्ट किये गये।
पर हाय! आज रही सही भी पोथियां यों कह रहीं,
क्या तुम वही हो, आज तो पहचानतक पड़ते नहीं ॥२॥

बम्बई प्रान्त

बम्बई भारत वर्ष का सबसे बड़ा प्रान्त है। यथार्थ में वह कई प्रदेशों का समूह है। उसके मुख्य विभाग ये हैं :—सिंध, गुजरात, काठियावाड़, खानदेश, बम्बई, कोकन और कर्नाटक। इसमें लगभग एक लाख तेईस हजार वर्ग मील स्थान है। यह प्रान्त जितना लम्बा चौड़ा है उतना महत्व-पूर्ण भी है। जैसा वह आज देशके प्रान्तों का सिरताज़ है, वैसा ही प्राचीन इतिहास में भी वह प्रसिद्ध रहा है। ईस्वी सन् से हजारों वर्ष पूर्व इस प्रान्त का बहुत दूर दूर के पूर्वी और पश्चिमी देशों से समुद्रद्वारा व्यापार होता था। भृगुकक्ष (भडोच), सोपारा, सूरत आदि बड़े बड़े प्राचीन बन्दरस्थान हैं। इनका उल्लेख आज से अढ़ाई हजार वर्ष पुराने पाली ग्रन्थों में पाया जाता है। अधिकांश विदेशी शासक, जिन्होंने इस देश पर स्थायी प्रभाव डाला, समुद्रद्वारा इसी प्रान्त में पहले पहल आये। सिकन्दर बादशाह सिन्ध से समुद्रद्वारा ही वापिस लौटा था। अरब लोगोंने आठवीं शताब्दि के प्रारम्भ में पहले पहल गुजरात पर चढाई की थी। ग्यारहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में महमूद गजनवी की गुजरात में सोमनाथ के मंदिर की लूटसे ही हिन्दू राजाओं की सबसे बड़ी पराजय हुई और हिन्दू राज्य की नींव उखड़ गई। सत्रहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में ईस्ट इंडिया कंपनी ने पहले पहल इसी

प्रान्त में सूरत, अहमदाबाद और केम्बे में अपने कारखाने खोले थे। मुगलों के समय में हिन्दू राष्ट्र को पुनर्जीवित करनेवाला शेर शिवाजी इसी प्रांत में पैदा हुआ था। और वर्तमान में राष्ट्रीय भावों को जागृत करने का अधिकांश श्रेय बम्बई प्रांत को ही है। इस प्रकार भारतीय इतिहास की कई एक धारायें इसी प्रांत से प्रारंभ होती हैं।

बम्बई प्रान्त से जैन, हिंदु और बौद्ध धर्मों का पौराणिक संबंध।

भारतवर्ष के प्राचीनतम जैन, हिन्दु और बौद्ध धर्मोंका इस प्रान्त से घनिष्ठ संबंध रहा है। हिन्दुओं का परम पवित्र तीर्थक्षेत्र, कृष्ण महाराज की द्वारकापुरी, इसी प्रान्त में है और वनवास के समय के रामचंद्र के अनेक लीला-स्थल, जनस्थान आदि, नासिक के आसपास इसी प्रान्त के अंतर्गत हैं। महात्मा बुद्ध ने अपने पूर्व भवोंमें कई बार इस प्रांत के सुपारा आदि स्थानों में जन्म लिया था। ईसासे कई शताब्दि पूर्व इस प्रांत में बौद्ध धर्म का प्रचार हो चुका था। यह धर्म अब यहां से लुप्त हो गया है, पर उसकी कीर्ति अक्षय बनाये रखने के लिये इस प्रांतमें सैकडों प्राचीन गुफायें आज भी विद्यमान हैं जो अपनी कारीगरी से संसार को आश्चर्यान्वित कर रहीं हैं। अजन्टा, कन्हेरी, एलोरा, पीतलखोरा, भाजा आदि स्थानों की गुफायें तो संसार में अपनी उपमा नहीं रखतीं। प्रति वर्ष दूर दूर से हजारों देशी और विदेशी यात्री इन स्थानों की भेंटकर अपने नेत्र सफल करते हैं। जैन धर्म का तो इस

प्रान्त से अत्यन्त प्राचीन और बहुत घनिष्ठ सम्बंध है। बिहारप्रान्त को छोड़ अन्य और किसी प्रान्त में बम्बई के बराबर जैनियों के सिद्धक्षेत्र नहीं हैं। पुराणों से विदित होता है कि पूर्व काल में यह प्रान्त करोड़ों जैन मुनियों की बिहार भूमि थी। बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ के पांचों ही कल्याणक इसी प्रान्त में हुए हैं। उनका मुक्तिस्थान गिरनार आज अनेक जैन मंदिरों से अलंकृत हो रहा है जिसकी बन्दना कर प्रति वर्ष सहस्त्रों यात्री अपने पापों का क्षय करते हैं। यह वही ऊर्जयन्त पर्वत है जिसका सुंदर वर्णन माघ कवि ने अपने शिशुपाल-वध काव्य में किया है। पावागिरि, तारंगा, शत्रुंजय, पालीताणा, गजपंथा, माँगी-तुँगी, कुंथलगिरि क्षेत्रों को करोड़ों मुनियों ने अपनी तपस्या और केवलज्ञान से पवित्र किया है। ये स्थान हजारों वर्षों से जैनियों द्वारा पूजे जा रहे हैं। इनमें से अनेक स्थानों के मंदिरों की कारीगरी ने अपनी विलक्षणता से भारत के कला कौशल सम्बंधी इतिहास में चिरस्थायी स्थान प्राप्त कर लिया है।

इतिहास-कालमें वम्बईप्रांतका जैन धर्म से संबंध।

जबकि जैन ग्रन्थों में इस प्रांत के विषय में उपर्युक्त समाचार मिलते हैं तव यह प्रश्न उठाना निरर्थक है कि बम्बईप्रान्तसे जैन धर्मका संबंध कब प्रारम्भ हुआ। निस्संदेह यह संबंध इतिहासातीत काल से चला आ रहा है। भारत के प्राचीन इतिहास में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का काल बहुत महत्वपूर्ण है। इस देशका वैज्ञानिक इतिहास उन्हीं के समय से प्रारम्भ होता है। वैज्ञानिक इतिहास के उस प्रातःकाल में हम जैनाचार्य भद्र-

बाहु को एक भारी मुनि संघ सहित उत्तर से दक्षिण भारत की यात्रा करते हुए देखते हैं। उन्होंने मालवा प्रांत से मैसूर प्रांत की यात्रा की और श्रवणबेलगुल में अपना स्थान बनाया। उनके शिष्य चारों ओर धर्म-प्रचार करने लगे। आगामी थोड़ी ही शताब्दियों में उन्होंने दक्षिण भारत में जैन धर्म का अच्छा प्रचार कर डाला, अनेक राजाओं को जैनधर्मी बनाया, अनेक द्राविण भाषाओं को साहित्य का रूप दिया, अनेक विद्यालय और औषधिशालायें आदि स्थापित कराईं। बम्बई प्रांत के प्रायः सभी भागों में भद्रबाहु स्वामी के शिष्योंने बिहार किया और जैन धर्म की ज्योति पुनरुद्योतित की। ईसा की पांचवीं छठवीं शताब्दि में भी यहां अनेक प्रसिद्ध जैन मंदिर बने थे। इनमें का एक मंदिर अब तक विद्यमान है। वह है ऐहोलि का मेघुती मंदिर। इस मंदिर में जो लेख मिला है वह शक सं० ५५६ का है। उससे बहुतसी ऐतिहासिक वार्ताएँ विदित होती हैं। उसका लेखक जैन कवि रविकीर्ति अपने को कालिदास और भारवि की कोटि में रखता है। इस उल्लेख से महाकवि कालिदास का समय निश्चित करने में सहायता मिलती है।

बम्बई प्रान्त में जैन धर्म की उन्नति

ईसा की दशवीं शताब्दि तक जैन धर्म दक्षिण भारत में बरार उत्तरोत्तर उन्नति करता गया। यहां के कदम्ब, रट्ट, पल्लव, सन्तार चालुक्य, राष्ट्रकूट, कलचुरि आदि राजवंश जैन धर्मावलम्बी व जैन धर्म के बड़े हितैषी थे। यह बात उस समय के अनेक शिलालेखों से सिद्ध होती है। इन्होंने जैन कवियों को आश्रय दिया और उत्साह दिलाया। उन्होंने अनेक धार्मिक वाद

कराये जिन में जैन नैयायिकोंने विजय-श्री प्राप्तकर यश लूटा और धर्म-प्रभावना की। दिगम्बर जैनियों के बड़े बड़े आचार्य इन्हीं राजवंशों से संबंध रखते थे। पूज्यपाद समंत भद्र, अकलंक, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, नेमिचन्द्र, सोमदेव, महावीर, इन्द्रनंदि, पुष्पदन्त आदि आचार्यों ने इन्हीं राजाओं की छत्रछाया में अपने काव्यों की रचना की थी तथा बौद्ध और हिंदु वादियों का गर्व खर्व किया था। इसी समृद्धिकाल में जैनियों के अनेक मंदिर गुफायें आदि निर्मापित हुई।

बम्बई प्रान्तमें जैन धर्मका ऱ्हास।

इस प्रकार दशवीं शताब्दि तक दक्षिण भारत, और विशेष कर बम्बई प्रान्त, में जैन धर्म ही मुख्य धर्म था। पर दशवीं शताब्दि के पश्चात् जैनधर्म का ऱ्हास प्रारम्भ होगया और शैव, वैष्णव धर्मों का प्रचार बढ़ा। एक एक करके जैन धर्मावलंबी राजा शैव होते गये। राष्ट्रकूट राजा जैनी थे और उनकी राज-धानी मान्यखेट में जैन कवियों का खूब जमाव रहता था। ग्यारहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में राष्ट्रकूट वंश का पतन होगया और उसके साथ जैन धर्म का जोर भी घट गया। इसका पुष्पदन्त कविने अपने महापुराण में बहुत ही मार्मिक वर्णन किया हैं। यथा—

दीनानाथधनं सदा बहुजनं प्रोत्फुल्लवल्लीवनं
मान्याखेटपुरं पुरंदर-पुरीलीलाहरं सुन्दरम्।
धारानाथनरेन्द्रकोपशिखिना दग्धं विदग्धप्रियम्
केदानीं वसतिं करिष्यति पुनः श्रीपुष्पदन्तः कविः॥

अर्थात्:—जो मान्यखेटपुर दीन और अनाथों का धन था, जहां की फूल वाटिकायें नित्य हरी भरी रहती थीं, जो अपनी शोभा से इन्द्रपुरी को भी जीतता था, वही विद्वानों का प्यारा पुर आज धाराधीश की कोपाग्नि से दग्ध होगया। अब पुष्पदंत कवि कहां निवास करेंगे।

उधर कलचुरि राजा वज्जाल जैनधर्म को छोड़कर शैव धर्मी हो गया और जैनियों पर भारी अत्याचार करने लगा। यही हाल होय्सल नरेश विष्णुवर्धन का हुआ। जिसने अनेक जैन मंदिर बनवाकर और उनको भारी भारी दान देकर जैन धर्म की प्रभावना की थी वही उस धर्म का कट्टर शत्रु होगया। कहा जाता है कि कई राजाओं ने तो शैवधर्मी होकर हजारों जैन मुनियों और गृहस्थों को कोल्हू में पिरवा डाला। गुजरात के दरबार में जैनियों का प्रभाव कुछ अधिक समय तक रहा, पर अंत में वहां भी उनका पतन हो गया। इस प्रकार राजाश्रय से विहीन होकर और राजाओं द्वारा सताये जाकर यह धर्म क्षीण हो गया। जिन स्थानों में लाखों जैनी थे, वहां धीरे धीरे एक भी जैनी नही रहा। कई स्थानों में जैन मंदिरों आदिके ध्वंस अबतक विद्यमान हैं, पर कोसों तक जैनी का पता नहीं है। बेलगांव, धारवाड़, बीजापुर आदि जिले जैन ध्वंसावशेषों से भरे पड़े हैं। अनेक जैन मंदिर शिव मंदिरों में परिवर्तित कर लिये गये। कुछ कालोपरान्त जब मुसलमानों का जोर बढ़ा तब और भी अवस्था खराब होगई। उन्होंनें जैन मंदिरोंको तोड़ तोड़ कर मसजिदें बनवाईं। कई मसजिदों में जैन मंदिरों का मसाला अब भी पहचानने में आता है। बौद्धों के समान जैनियोंने भी

अनेक कला कौशल से पूर्ण गुफायें बनवाई थी। प्रायः जहां जहां बौद्ध गुफायें हैं वहां थोड़ी बहुत जैन गुफायें भी हैं। इनपर से अब या तो जैन धर्म की छाप ही उठगई, या जैनियों ने उनको सर्वथा भुला दिया।

बम्बई प्रान्त में अनेक स्थानों, जैसे पाटन, ईडर आदि, में बड़े बड़े प्राचीन शास्त्र भंडार हैं। इनका सूक्ष्म रूप से शोध होना आवश्यक है। भारतवर्ष के जैनियों की लगभग आधी जनसंख्या बम्बई प्रान्त में निवास करती है। इन भाइयों का सर्वोपरि कर्त्तव्य है कि वे इस पुस्तक की सहायता से अपने प्रान्त की धार्मिक प्राचीनता को समझें और जैन धर्म के पुनरुत्थान में भाग लें। पुस्तक के लेखक का यही अभिप्राय है।

मद्रास और मैसूर प्रान्त

दक्षिण भारत में जैन धर्म का इतिहास और वहां की जन समाज के जीवन पर उसका प्रभाव, यह विषय इतिहास-प्रेमियों के लिये जितना चित्ताकर्षक है उतना ही गहन और रहस्य-पूर्ण भी है। साहित्य और शिलालेखादि में इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक घटनायें विक्षिप्त रूप से इधर उधर पाई जाती हैं। पर ज्यों ही इतिहासकार उन्हें धाराबद्ध करने का प्रयत्न करता है, त्योंही उसे प्रमाणों का अभाव पद पद पर खटकने लगता है, और उसे अपनी शृंखला पूरी करने के हेतु अनुमान और तर्क से काम लेना पड़ता है। अनुमान और तर्क यद्यपि इतिहास-क्षेत्र में आवश्यक हैं, किन्तु जब तक उनकी नींव अचल प्रमाणों पर न जमाई जावे, तबतक वे सच्चे पथ-प्रदर्शक नहीं

कहे जा सकते। मद्रास प्रान्त में जैन धर्म के इतिहास से संबंध रखनेवाली कई ऐसी बातों का पता लग चुका है जिनसे आगामी अन्वेषणमें बहुत सहायता मिलने की आशा है। इतिहास-प्रेमियों का कर्तव्य है कि वे इन बातों को ध्यान में रखकर खोज में दत्तचित्त होवें।

तामिल देश में जैन धर्म का प्रचार

इस विषय में सबसे प्रथम प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऐतहासिक दृष्टि से मद्रास प्रान्त में जैन धर्म कब प्रचलित हुआ? चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में भद्रबाहुस्वामी का अपने बारह हजार शिष्यों सहित दक्षिण भारत की यात्रा करना जैन धर्म के इतिहास की सुदृढ़ घटना मानी जाती है। अनेक साहित्यिक और शिलालेखादि सम्बंधी प्रमाणों द्वारा यह घटना सिद्ध भी हो चुकी है। अब प्रश्न यह है कि क्या इससे पूर्व भारत के इस विभाग में जैन धर्म का सर्वथा अभाव था? दक्षिण भारत के प्रसिद्ध इतिहास संग्रह 'राजावली कथा' में उल्लेख है कि भद्रबाहु स्वामी के शिष्य विशाखाचार्य ने चोल और पाण्ड्य प्रदेशों में भ्रमण करते हुए वहां के जैन चैत्यालयों की वन्दना की और जैन श्रावकों को उपदेश दिया। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'राजावली कथा' के कर्ता के मतानुसार भद्रबाहु स्वामी के आगमन से पूर्व भी मद्रास प्रान्त में जैन धर्म का प्रचार था। इस सम्बंध में प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती का अनुमान है कि यदि भद्रबाहु से पूर्व ही दक्षिण भारत में जैन धर्म का प्रचार न होता तो भद्रबाहु स्वामी को

दुर्भिक्ष के समय में बारह हजार शिष्यों को लेकर दक्षिण में आने का साहस कदाचित् न होता। उन्हे अपने वहां के निवासी धर्मानुयायियों द्वारा अपने शुभागमन किये जाने का विश्वास था, इसीसे वे एकाएकी वैसा साहस कर सके।

सिंहलद्वीप में जैनधर्म।

इस बातका एक और भी अधिक प्रबल प्रमाण मिला है। सिंहलद्वीप के इतिहाससे संबंध रखनेवाला 'महावंश' नाम का एक पाली भाषा का ग्रन्थ है, जिसे धंतुसेन नाम के एक बौद्ध भिक्षु ने लिखा है। इस ग्रन्थ का रचना काल ईसा की पांचवी शताब्दि अनुमान किया जाता है। इसमें ईस्वी पूर्व ५४३ से लगाकर ईस्वी सन् ३०१ तक का वर्णन है। इसमें वर्णित घटनायें सिंहलद्वीप के इतिहास के लिये बहुतायत से प्रमाण भूत मानी जाती हैं। इस ग्रन्थ में सिंहलद्वीप के नरेश 'पनुयाभय' के वर्णन में कहा गया है कि उन्होंने लगभग ४३७ ईस्वी पूर्व अपनी राजधानी अनुराधपुर में स्थापित की और वहाँ निर्ग्रन्थ मुनि के लिये एक 'गिरि' नामक स्थान नियत किया। निर्ग्रन्थ 'कुम्बन्ध' के लिये राजा ने एक मंदिर भी निर्माण कराया जो उक्त मुनि के नाम से प्रख्यात हुआ। एक भिन्न धर्मी प्राचीन इतिहास लेखक के इन वचनों से सिद्ध होता है कि ईस्वी सन् से पूर्व पांचवी शताब्दि में, अर्थात् भद्रबाहु स्वामी की दक्षिण यात्रा के समय से भी लगभग दो सौ वर्ष पूर्व सिंहलद्वीप में जैन धर्म का प्रचार हो चुका था। ऐसी अवस्था में मद्रास प्रान्त के चोल और पाण्ड्य प्रदेशों में उस

समय जैन धर्म का प्रचलित होना सर्वथा संभव प्रतीत होता है। विशाखाचार्य के परिभ्रमण से वहां जैन धर्म को नया उत्तेजन मिला होगा।

तामिल देशके मदुरा और रामनद जिलों से अत्यन्त प्राचीन लेख मिले हैं जो अशोक के समय की ब्राह्मी लिपि में हैं, और इसलिये वे ईस्वी से पूर्व तीसरी शताब्दि के सिद्ध होते हैं। ये लेख अभीतक पूर्ण रूपसे पढ़े नहीं गये, पर जैनियों के ध्वंस मंदिरों के समीप पाये जानेसे प्रतीत होता है कि सम्भवतः वे जैनधर्म से संबंध रखते हैं।

संगमसाहित्य और जैनधर्म

तामिल देश का साहित्य बहुत प्राचीन है। इस साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ 'संगमकाल' (संघकाल) के बने हुए कहे जाते हैं। संघकाल का तात्पर्य यह है कि उक्त समय में समस्त कवियों ने मिलकर अपना एक संघ बना लिया था, और प्रत्येक कवि अपने ग्रन्थ का प्रचार करने से पूर्व उसे इस संघद्वारा स्वीकार करालेता था। इस प्रबंध से केवल उत्कृष्ट साहित्य ही जनता के सन्मुख उपस्थित किया जाता था। इस 'संगम' का अभीतक निर्विवाद रूपसे समय-निर्णय नहीं हो सका है, पर अधिकांश विद्वानों का मत है कि लगभग ईस्वी सन् के प्रारम्भ में ही 'संगम' का प्राबल्य रहा होगा। इस कालका 'कुरल' नामक एक उत्कृष्ट काव्य है जो 'तिरुवल्लुवर' नामक तामिल साधु का बनाया हुआ कहा जाता है। यह ग्रन्थ इतना सुंदर, इतनी शुद्धनीति का उपदेशक और इतना धार्मिक व

सामाजिक संकीर्णता से रहित है कि प्रत्येक धर्मवाले इसे अपना धर्म ग्रन्थ सिद्ध करने में अपना गौरव मानते हैं। पर जिन्होने निष्पक्ष हृदय से इस ग्रन्थ का अध्ययन किया है उन्होंने इसे एक जैनाचार्य की कृति ही माना है। अनेक साहित्यिक प्रमाण भी इस बात के मिले हैं कि यह ग्रन्थ एलाचार्य नाम के जैनाचार्य का बनाया हुआ है। उन्होंने अपने शिष्य 'तिरुवल्लुवर' के द्वारा इसे 'संगम' की स्वीकृति के हेतु भेजा था। नीलकेशी की टीका में इसे स्पष्ट रूप से जैन शास्त्र कहा है। हिन्दुओं की किंवदन्ती है कि एलासिंह नामक एक शैव साधु के शिष्य तिरुवल्लुवर ने 'कुरल' ग्रन्थ रचा था। इस किंवदन्ती से भी परोक्षरूपसे कुरल का एलाचार्य की कृति होना सिद्ध होता है। ये एलाचार्य अन्य कोई नहीं, दिगम्बर संप्रदायके भारी स्तम्भ श्री कुन्दकुन्दाचार्य ही माने जाते हैं। इस विषय में जिन्हे रुचि हो उन्हें कुरल ग्रन्थ का और इस सम्बंध में प्रकाशित अनेक लेखों का स्वयं अध्ययन करना चाहिये। *

कुरल शास्त्र की सत्ता से ही सिद्ध होता है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ में जैन धर्म के उदार सिद्धान्तों का तामिल देश में अच्छा आदर होता था। फ्रेजर साहब ने अपने इतिहास में कहा है कि वह जैनियों के ही प्रयत्न का फल था कि दक्षिण भारत में नया आदर्श, नया साहित्य, नवीन आचार-विचार और नूतन

---

* कुरल ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराना जैनियों का कर्तव्य ही नही, उनका महत्वपूर्ण अधिकार था। हालही में इसका एक हिन्दी अनुवाद अजमेर के 'सस्ता साहित्य कार्यालय' से प्रकाशित हुआ है। जैनियों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिये।

भाषाशैली प्रगट हुई। एलाचार्य, अपर नाम कुन्दकुन्दाचार्य, के संम्बन्ध में यह भी कथन मिलता है कि उन्होंने अपने प्राकृत ग्रन्थ (प्राभृतत्रय) महाराज शिवकुमार के सम्बोधनार्थ रचे थे। प्रोफेसर के. बी. पाठक इन शिवकुमार महाराज को एक प्राचीन कदम्ब नरेश श्री विजय शिव-मृगेशवर्मा सिद्ध करते हैं। परन्तु प्रोफेसर ए. चक्रवर्ती ने इन्हें कांची के नरेश पल्लव शिवस्कन्द वर्मा सिद्ध किया है। इनका उल्लेख एक ताम्रपत्र में पाया जाता है जो प्राकृत भाषा में है और जो अन्य कुछ विशेषताओंसे भी जैन धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला सिद्ध होता है।

'कुरल' के रचनाकाल के पश्चात् तामिल देश में साहित्य का खूब प्रसार हुआ, और इसमें जैनियों का भाग विशेष रहा। तामिल भाषा के प्रसिद्ध पौराणिक काव्य 'सिलप्पदिकारम्' और "मणिमेकलै' में जैन धर्म के अनेक उल्लेख हैं जिनसे सिद्ध होता है कि उस देश में उस समय जैनधर्म ही सर्वत्र और सर्वमान्य था। ये उल्लेख यह भी सिद्ध करते हैं कि जैनधर्म को चोल और पांड्य नरेशोंका अच्छा आश्रय मिला था और राजवंश के अनेक पुरुष और महिलाओं ने जैन धर्म को अपनाया था। सारा तामिल देश जैनमुनियों और अर्जिकाओं के आश्रमों से भरा हुआ था। नगर से बाहर चौराहोंपर मुनियों के आश्रम रहा करते थे और समीपही आर्जिकाओंके जुदे आश्रम थे। मदुरा जैनियों का मुख्य केन्द्र था। यह अवस्था ईस्वी की लगभग दूसरी शताब्दि की है। आगे की शताब्दियों में जैन धर्म की उन्नति जारी रही, यहां तकाकि पांचवीं शताब्दि में साहित्योन्नति के लिये जैनियों ने अपना एक स्वतंत्र 'संघ'

स्थापित किया जो 'द्राविड़' संघ के नाम से प्रसिद्ध हुआ, और इसका केन्द्र मदुरा ही में रक्खा गया। इस संघ के स्थापक पूज्यपाद स्वामी के शिष्य बज्रनंदि थे*। ऐसे संघों की उत्पत्ति उस काल में राजाश्रय के बिना असंभव थी। अतएव सिद्ध होता है कि पांचवी शताब्दि में भी जैनियों को पाण्ड्य नरेशों का प्रबल आश्रय था।

विद्वेषका सूत्रपात और कलभ्रोंका आगमन।

जैनियों की यह असाधारण उन्नति उनके समीपवर्ती विपक्ष धर्मियोंको सह्य नहीं हुई, और उन्होंने जैनियों के विरुद्ध अनेक जाल रचना प्रारम्भ किया। इस सम्बन्ध में पहिली टक्कर जैनियों को शिव धर्मियों से लेनी पड़ी। पर प्रारम्भ में 'कलभ्रों' की सहायता से जैनी अपने विपक्षियों पर विजय प्राप्त करने में सफल हुए। अनेक पाण्ड्य और पल्लव लेखों से सिद्ध होता हैं कि ईसा की छठवीं शताब्दि में तामिल देशपर उत्तर से कलभ्र वंशियों का आक्रमण हुआ और उन्होंने जैन धर्म को खूब आश्रय दिया×। इसी विजय के समय जैनियों ने 'नालदियार' नामक तामिल काव्य की रचना की। इस काव्य में ४०० पद हैं, जिन्हें भिन्न भिन्न चार सौ जैन आचार्यों ने रचा है। डाक्टर

---

* देवसेन कृत दर्शनसारमें इस संघ की स्थापनाका उल्लेख है, किंतु उस उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस संघ की स्थापना का मूल कारण कुछ आचार्यों का धार्मिक मतभेद था। उपर्युक्त मत श्रीयुत् रामस्वामी अय्यन्गार का है।

× कलभ्रों के दक्षिण भारत पर आक्रमण का कुछ विवरण 'मध्यप्रांत' के विवरण में देखिये।

पोप ने इस काव्य को 'वेल्लार वेदम्' अर्थात् किसानों का वेद कहा है। इस काव्य के पदों का आजतक तामिल देश के घर घर में प्रचार है। इस काव्य में कलभ्रों के जैनी होने, व जैन और ब्राह्मण धर्मों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष के उल्लेख पाये जाते हैं।

जैन धर्मकी कमजोरियां, शैव और वैष्णवों की वृद्धि

कलभ्रों के आक्रमण से शैव धर्म के विरुद्ध जैन धर्म की कुछ काल के लिये रक्षा हो गई, पर यह थोड़े ही समय के लिये थी। इस समय जैन धर्म के पालन में कुछ ऐसी कमजोरियां आचलीं थी जिनके कारण शैवधर्मको बढ़नेका अच्छा अवसर मिल गया। श्रीयुत् रामस्वामी अय्यन्गारजी अपने इतिहास में लिखते हैं कि छठवीं शताब्दि के लगभग "जैन धर्म की मृदुल आज्ञायें प्रतिदिन के जीवन के लिये बहुत कड़ीं और कष्टप्रद हो गई थीं। जैनियों की दूसरों से पृथक् बुद्धि और देशकाल के अनुकूल परिवर्तनोंके अभाव के कारण वे हंसी और घृणा की दृष्टि से देखे जाने लगे। अब वे केवल राजशक्ति द्वारा अपने प्रभाव को स्थिर रख सकते थे। तामिल देश के लोग अब हार्दिक विश्वास के साथ जैनधर्म को स्वीकार नहीं करते थे *।

---

* "The mild teachings of the Jain system had become very rigorous and exacting in their application to daily life. The exclusiveness of the Jains and their lack of adoptability to circumstances soon rendered them objects of contempt, and it was only with the help of state patronage that they were able to make their influence felt. No longer did the Tamilians embrace the Jain faith out of open conviction."

जिस धर्म के प्रतिपालन में देश-कालानुसार परिवर्तन नहीं किये जाते वह धर्म कभी अधिक समय तक नहीं टिक सकता। शैव धर्म के प्रचारकों ने जैनधर्मियों की इन दुर्बलताओं से पूरा लाभ उठाया। ये प्रचारक 'नायनार' कहलाते थे। वे शिवभक्ति के माहात्म्य के स्तोत्र बना बना कर उनका जनता में प्रचार करने लगे और स्थान स्थान पर शिवमंदिर निर्माण करा कर उनमें जन साधारण के चित्त को आकर्षित करनेवाला क्रियाकाण्ड करने लगे। इस समय, अर्थात् लगभग सातवीं शताब्दि के मध्यभाग में, पाण्ड्य देश में सुंदर पाण्ड्य नामक राजा का राज्य था। यह राजा पक्का जैन धर्मी था, किन्तु इसकी रानी और मंत्री शैवधर्मी थे। इन्होंने पाण्ड्य देश में शैवधर्म की प्रभुता स्थापित करने का जाल रचा। इस हेतु उन्होंने 'ज्ञान सम्बन्दर' नामक शैव साधु को आमंत्रित किया। कहा जाता है कि इसने कुछ चमत्कार दिखाकर राजा के सन्मुख जैनियों को परास्त कर दिया, जिससे राजाने अपना धर्म परिवर्तन करालिया और आठ हजार जैनाचार्यों का वध करा डाला।

ठीक इसी समय पल्लव देशमें भी धर्म-विप्लव हुआ। वहां अप्पर नामके एक दूसरे शैव साधु ने पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मा को जैन से शैव बनाया। कहा जाता है स्वयं अप्पर पहले जैनी था। परन्तु अपनी भगिनी के प्रयत्न से शैव हो गया। इन राजधर्मों में विप्लव का वर्णन 'पेरिय पुराणम्' नामक शैव साधुओंके जीवन चरित्र सम्बन्धी ग्रन्थ में, कथारूप में, पाया जाता है। इन कथाओं का अधिकांश कल्पना-पूर्ण है, किन्तु उनमें भी ऐतिहासिक तत्त्व छुपा हुआ है।

इसी समय वैष्णव अलवरोंने अपना धर्मप्रचार प्रारम्भ किया और जैन धर्म को क्षति पहुंचाई। मदुरा के मीनाक्षी मंदिरके मंडपकी दीवालकी चित्रकारी में जैनियों पर शैवों और वैष्णवों द्वारा किये गये अत्याचारों की कथा अंकित है। जैन-धर्म तामिल देश में बहुत क्षीण अवश्य हो गया, किंतु कुछ बातों में वहां के दैनिक जीवन और कलाकौशलपर उसका अक्षय प्रभाव पड़ गया है। यह प्रभाव एक तो अहिंसा सिद्धांतका है जिसके कारण शैव और वैष्णव धर्मों से भी पशुयज्ञ का सर्वथा लोप हो गया। दूसरे शैव और वैष्णवोंने बड़े बड़े मंदिर बनाना व अपने साधुपुरुषोंकी मूर्तियां विराजमान कर उनकी पूजा करना जैनियों से ही सीखा है। ये बातें जैन धर्म में बहुत पहले से ही थीं और शैवों व वैष्णवों ने इन्हें जैन धर्म से लिया।

जैनियों को श्रवण बेलगोल में गंग नरेशों का आश्रय।

पाण्ड्य और पल्लव देशों में राजाश्रय से विहीन होकर व शैव और वैष्णवों द्वारा सताये जाकर जैनियोंने अपने प्राचीन स्थान श्रवणबेलगोल में आकर गंग नरेशों का आश्रय लिया। गंगवंश का राज्य मैसूर प्रांत में ईसा की लगभग दूसरी शताब्दि से ग्यारहवीं शताब्दि तक रहा। मैसूर में जो आजकल गंगडि-कार नामक कृषकों की भारी संख्या है वे गंगनरेशोंकी ही प्रजा के वंशज हैं। अनेक शिलालेखों व ग्रन्थों में उल्लेख है कि गंगराज की नीव जैनाचार्य सिंहनंदि द्वारा डाली गई थी। तभी इस वंश में जैन धर्म का विशेष प्रभाव रहा। इसी वंश के सातवें नरेश दुर्विनीत के गुरु पूज्यपाद देवनंदि थे।

गंगनरेश मारसिंह ने अपने जीवन के अंतिम भाग में अजितसेन भट्टारक से जिन दीक्षा लेकर समाधि-मरण किया था। ये नरेश ईसा की दशवीं शताब्दि में हुए हैं। पाण्ड्य और पल्लव प्रदेशों में आकर जैनियों ने अधिकतर इसी समय में गंगनरेश का आश्रय लिया, जिससे गंग-साम्राज्य में जैनियों का अच्छा प्राबल्य बढ़ गया। मारसिंह के उत्तराधिकारी राचमल्ल हुए जिन के मंत्री चामुण्डराय ने विन्ध्यगिरि पर श्री बाहुबलि स्वामी की वह उत्तरमुख खड्गासन विशालमूर्ति स्थापित की जिसके दर्शन मात्रसे अब भी बड़े बड़े अहंकारियों का गर्व खर्व हो जाता है। चामुण्डरायजी ने अपने बाहुबल से अनेक युद्ध जीते थे। और समरधुरंधर, वीरमार्तण्ड, भुजविक्रम, वैरिकुलकालदंड, समर-परशुराम आदि उपाधियां प्राप्त की थीं। चामुण्डरायजी कवि भी थे। उन्होंने कनाड़ी भाषा में "चामुण्डराय पुराण" नामक ग्रन्थ भी रचा है जिसमें तीर्थंकरों का जीवनचरित्र वर्णित है।

होय्सल नरेशों का आश्रय

ग्यारहवीं शताब्दि के प्रारम्भ में चोल नरेशों द्वारा गंग वंश की इतिश्री हो गई, और मैसूर प्रांत में होय्सल वंश का प्राबल्य बढ़ा। इस वंश की प्रारंभिक उन्नति में भी एक जैन मुनि का हाथ था। इस राजवंश के समय में जैनियों की खूब ही उन्नति हुई जिसका पता श्रवण बेलगोल के मंदिरों और शिला-लेखों से चलता है।* इस वंश के विनयादित्य द्वितीय जैनाचार्य

* श्रवण बेल गोल के मंदिरों, शिलालेखों व वहां के सविस्तर इतिहास के लिये देखो माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित "जैन शिलालेख-संग्रह"

शांतिदेव के शिष्य थे। एक लेखमें कहा गया है कि उन्होंने राज्यश्री इन्हीं आचार्य की चरण-सेवासे प्राप्त की थी। लेख में कहा गया है कि इस नरेश ने इतने जैन मंदिरादि निर्माण कराये कि ईंटों के लिये जो भूमि खोदी गई वहां बड़े बड़े तालाव बन गये, जिन पर्वतों से पत्थर निकाला गया वे पृथ्वी के समतल होगये, जिन रास्तों से चूने की गाड़ियां निकलीं वे रास्ते गहरी घाटियां हो गईं, इत्यादि। इनके पौत्र विट्टिगदेव प्रारम्भ में पक्के जैन धर्मी थे, किन्तु कुछ समयोपरान्त रामानुजाचार्य के प्रयत्न से वे वैष्णव-मतावलम्बी हो गये। तब से उनका नाम विष्णुवर्धन पड़ गया। कहा जाता है कि इस धर्म-परिवर्तन के पश्चात् उन्होंने जैनधर्म पर बड़े बड़े अत्याचार किये, किन्तु श्रवणबेलगोल के लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि धर्मपरिवर्तन के पश्चात् भी जैन धर्म की ओर उनकी सहानुभूति रही। उनकी रानी शान्तलदेवी आजन्म जैन श्राविका रहीं और जैन मंदिर निर्माण करातीं व दान देती रहीं। उनके मंत्री गंगराज तो उस समय जैनधर्म के एक भारी स्तम्भ ही थे। उन्होंने विष्णुवर्द्धन के राज्य की अद्वितीय उन्नति की, और अपनी सारी समृद्धि जैनधर्म के उत्थान में व्यय की। गंगराज की वीरता, धार्मिकता और दानशीलता का विवरण अनेक शिलालेखों में पाया जाता है। विष्णुवर्द्धन के पश्चात् नरसिंह, प्रथम, राजा हुए जिनके समय में जैनधर्म की उन्नति के कार्य उनके मंत्री व भण्डारी हुल्लपने किया। मैसूरप्रांत में ये तीन पुरुष, चामुण्डराय, गंगराज और हुल्लप, जैनधर्म के चमकते हुए तारों के सदृश हैं। इनके उपदेश-पूर्ण जीवनचरित्र स्वतंत्ररूपसे संकलित कर प्रकाशित किये जाने योग्य हैं। इन्होंने

ही गिरती के समय में मैसूर प्रान्त में जैनधर्म को ऊपर उठाया।

मुसलमानों का आक्रमण, विजयनगर का हिन्दू राज्य और जैनधर्म

होयसल राज्य में जैनधर्म की अवस्था उन्नत रही। इस वंश का राज्य १३२६ ईस्वी में मुसलमानों द्वारा समाप्त हो गया। मुसलमानों के आक्रमण से अन्य भारतीय धर्मों के समान जैनधर्म को भी भारी क्षति हुई, किन्तु मैसूर प्रान्त में शीघ्र ही पुनः विजयनगर का हिन्दू राज्य स्थापित होगया। इस वंश के नरेश यद्यपि हिन्दु थे, पर जैनधर्म की ओर उनकी दृष्टि सहानुभूतिपूर्ण रहती थी। इसका बड़ा भारी प्रमाण बुक्कराय का वह शिलालेख है जिसमें उनके बड़ी सहृदयता के साथ जैनियों और वैष्णवों के बीच संधि स्थापित करने का विवरण है। विजयनगर के हिन्दु नरेशों के समय में राजदरवार के कुछ व्यक्तियों ने जैनधर्म स्वीकार किया था। उदाहरणार्थ, हरिहर द्वितीय के एक सेनापति के पुत्र 'इरुग' नामक एक कुमार जैनधर्मावलम्वी हो गये थे।

जैनियों की वर्तमान अवस्था

इस प्रकार विजयनगर राज्य के समय में जैनी लोग शांति से अपना धर्म पालन कर सके। किन्तु जैन धर्म के उस पूर्व राजसन्मान और व्यापकता का पुनरुद्धार न हो सका। इस समय से जैनधर्म के अनुयायियों में उस अदम्य उत्साह, उस वीरता और धार्मिकता के मधुर सम्मिश्रण, उस साहित्यिक,

सामाजिक और राजकीय कर्मशीलता का भारी न्हास होना प्रारम्भ हो गया जो अबतक चला जाता है। एक तो वैसे स्वार्थ-त्यागी मुनियोंकाही अभाव हो चला। और जो थोड़े बहुत मुनि रहे भी उन्होंने धर्म के हेतु नरेशोंपर अपना प्रभाव जमाना छोड़ दिया। पाण्ड्य, पल्लव और चोल प्रदेशों में अब भी जैनधर्म से सम्बन्ध रखनेवाले न जाने कितने ध्वंस-विशेष विद्यमान हैं। मैसूर प्रान्त में तो जगह जगह बहुत अधिक संख्या में जैन मंदिर और मूर्तियां पाई जाती हैं। पुरातत्व-रक्षण का राज्य द्वारा प्रबन्ध होने से पूर्व न जाने कितने मंदिरों का मसाला व मूर्तियां आदि पुल इमारतें आदि बनाने के काम में लाया गया है। मद्रास प्रांत में अब जैनियों की संख्या केवल २८००० के लगभग है। सो भी तितर बितर और अधिकतर धार्मिक ज्ञान से शून्य है। अपनी प्राचीन अवस्था का कुछ परिचय प्राप्त कर यह सोती हुई समाज कुछ सचेत हो, उस के रक्त में कुछ नया जीवन संचार हो, यही अभिप्राय इन स्मारकों के संकलित करने का है।





हमारा अभ्युत्थान



उन्नतिके समयमें जैन समाजकी अवस्था

आज संसारमें चारों ओर उन्नतिकी आवाज गूंज रही है। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, वैज्ञानिक आदि जिस क्षेत्रमें जाइये वहां ही उन्नतिकी चर्चा सुन पड़ती है। प्रत्येक जन-समुदाय इस प्रयत्नमें लगा हुआ दिखाई पड़ता है कि किस प्रकार उसके सिद्धान्तोंका प्रचार हो और उसके अनुयायियोंकी संख्या बढ़े। भारतवर्षकी जनसंख्या भिन्न भिन्न धर्मोंके अनुसार अनेक समाजोंमें बटी हुई है। ये भिन्न भिन्न धार्मिक समुदाय आज अपनी अपनी उन्नति, अर्थात् अपने अपने सिद्धान्तोंके प्रचार और अपने अनुयायियोंकी संख्या-वृद्धिमें पूर्णतः प्रयत्नशील हो रहे हैं। वे अपने इस कार्यमें सिद्धिके लिये देशकालानुसार नाना प्रकारके साधनों और संस्कारोंका अवलम्बन ले रहे हैं। हिन्दू समाज, जो संख्यामें देशकी अन्य सब समाजोंसे ऊपर है, अपनी समाज-नीतिमें अनेक सुधार कर रही है। मुसलमान समाज अपनी जनसंख्या बढ़ानेका भरसक प्रयत्न कर रही है। "हिन्दू महासभा" और "मुस्लिम लीग" के प्रस्ताव आज-कल समाजोन्नतिसे ही विशेष सम्बंध रखते हैं। उधर ईसाई धर्मवाले न जाने कितने साधनों द्वारा अपने धर्मका प्रचार बढ़ा रहे हैं।

इस बढ़ाबढ़ीके समयमें जैनसमाजकी अवस्था बहुत शोचनीय हो रही है। इस इतिहासप्रसिद्ध धनी समाजके सन्मुख आज, उन्नतिका नहीं, जीवनमरणका प्रश्न प्रस्तुत है। इस जातिके वीर आज यह त्रैराशिक लगा रहे हैं कि यह समाज अब और कितने दिन जीवित रहेगा। यथार्थमें उनकी यह शंका निर्मूल नहीं है।

भारतवर्षकी गत तीन चार मर्दुमशुमारियों पर विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि हर दश वर्षमें जैनियोंकी लगभग एक लाख जनसंख्या घट जाती है और यदि यही क्रम जारी रहा तो निस्सन्देह लगभग एक शताब्दिमें जैनी नामशेष रह जावेंगे। बौद्ध धर्मका उदाहरण हमारे सन्मुख है। यह धर्म एक समय देशव्यापी होकर क्रमशः भारतवर्षसे सर्वतः लुप्त हो गया। पर बौद्ध धर्मका प्रचार संसारके अन्य देशोंमें यथेष्ट हो चुका था इस लिये उसका अस्तित्व अभीतक बना हुआ है। परन्तु जैनधर्मकी अवस्था वैसी नहीं है। इसका पाया इस समय किसी अन्य देशमें नहीं जमा है। इस लिये यदि भारतसे यह धर्म लुप्त हुआ तो उसका सर्वदेश लोप ही समझिये।

ऐसी भयानक अवस्थाको रोकनेका प्रयत्न करनेमें पहले हमें इस बातकी खोज करना चाहिये कि पूर्वकालमें जैन धर्मकी उन्नति किसप्रकार हुई थी और किन कारणोंसे उसकी अवनति हुई। कारणसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। अतः यदि हमें अपने धर्मकी उन्नति और अवनतिके कारण ज्ञात हो गये तो हम कदाचित् अपनी अवनतिको रोकनेमें समर्थ हो सकें।

जैन धर्मका सैद्धान्तिक स्वरूप

जिस प्रकार मनुष्यको दीर्घजीवी होनेके लिये व अपनी जीवनयात्रा सुचारु रूपसे सम्पादित करनेके लिये सबसे प्रथम सबल, स्वस्थ, निरोगी शरीरकी आवश्यक्ता है, ठीक उसी प्रकार किसी धर्मविशेषको चिरस्थायी होनेके लिये उसके अंगस्वरूप सिद्धान्तों और नियमोंमें सबलता और निरोगताकी आवश्यक्ता है। अतएव आरम्भमें हम जैनधर्मके स्वरूपपर ही विचार करेंगे। प्रत्येक धर्मकी जांच करनेके लिये मुख्यतः तीन बातें जानने योग्य हैं:—

१ वह परमात्मा व ईश्वरके विषयमें क्या कहता है?

२ वह आत्मा, जीव व प्राणीके विषयमें क्या कहता है?

३ वह जीव और परमात्मामें क्या सम्बंध स्थापित करता है?

ये तीन बातें प्रत्येक धर्मकी कुंजियां या कसौटियां हैं। यदि कोई धर्म इन तीन बातोंका सन्तोषजनक रीतिसे विवेचन करता है, तो समझना चाहिये कि उसमें चिरंजीवी होनेकी योग्यता है। "जैन धर्म इन प्रश्नोंका क्या उत्तर देता है" यह जाननेसे प्रथम अच्छा होगा यदि हम जानलें कि अन्यधर्म इन विषयोंपर क्या कहते हैं। जैनधर्मको छोड़ अन्य प्रायः सभी धर्म परमात्मा व ईश्वरको संसारका कर्त्ता, धर्त्ता और संहर्त्ता मानते हैं। ईश्वर शासक है और अन्य सब लोक उसकी प्रजा हैं। वह प्राणियोंका भाग्यविधायक है। ईश्वर और जीवमें राजा और प्रजाका सम्बन्ध है। जीवका कल्याण ईश्वरको प्रसन्न

करनेमें है। जब जीव सर्वतः शुद्ध हो जाता है तब वह ईश्वरमें मिलकर अपना अस्तित्व खो बैठता है–उसका अस्तित्व ईश्वरके अस्तित्वमें लुप्त हो जाता है। इस प्रकार ये धर्म जीवको पराधीन मानते हैं।

जैन धर्म परमात्माको जीवकी ही सर्वोच्च शुद्ध अवस्था मानता है। परमात्मा सृष्टिका कर्ताहर्ता नहीं है, किन्तु वह अनंतज्ञान-अनन्तसुखको भोगनेवाला, अपने स्वभावमें लीन रहनेवाला, सर्वतः शुद्ध आत्मा है। वह संसारके कार्योंसे सर्वथा परे है। यह संसार अपनी प्राकृतिक शक्तियों द्वारा स्वयं ही चलता है–उसे किसी बाह्य कर्ताकी आवश्यक्ता नहीं है। प्रत्येक प्राणी अपने भाग्यका निर्मापक है। उसके दुःख सुख उसके ही किये कर्मोंके परिणाम हैं। अपने ही पौरुषसे सर्वतः शुद्ध होकर प्रत्येक जीव किसी दूसरे परमात्मामें मिल नहीं जाता, पर स्वयं परमात्मा होजाता है। परमात्मा मनुष्यके लिये केवल आदर्श-स्वरूप है। वह उसकी उन्नति व अवनतिमें हस्तक्षेप नहीं करता। इस प्रकार जैनधर्म मूलतः स्वतंत्रता और उच्च ध्येयताका पोषक है। वह मनुष्यको स्वावलम्बी और अपने कर्मोंके लिये पूर्णतः उत्तरदायी सिद्ध करता है।

वस्तुके स्वरूपको जैनधर्म अन्य धर्मोंकी भांति एकान्त-दृष्टिसे नहीं देखता। वह उसे भिन्न भिन्न दृष्टिकोणोंसे देखता है। उदाहरणार्थ, आत्मा अपने शुद्धरूपकी अपेक्षासे कर्मोंका कर्ता व भोक्ता नहीं है, पर अशुद्धरूपकी अपेक्षासे है। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्यकी अपेक्षासे नित्य है, पर पर्याय अर्थात् अवस्था-विशेषकी अपेक्षासे अनित्य है, इत्यादि। अपने इस अनेकान्त न्यायसे जैन

धर्म अन्य धर्मोंके सिद्धान्तोंको दृष्टि-विशेषसे युक्तिसंगत मान सकता है। दूसरे धर्मोंमें यह बात नहीं है।

जैनधर्मका नैतिक स्वरूप।

यह तो हुआ सूक्ष्ममें जैनधर्मका सैद्धान्तिक अंग। अब उसके नैतिक अंगपर आईये। जिस प्रकार वस्तुस्वरूपके समझने में जैनधर्म उस पर भिन्न भिन्न दृष्टियों [नयों] से विचार करता है, उसी प्रकार मनुष्यके लिये आचारका उपदेश देनेमें भी वह उसकी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव संबंधी अवस्थाविशेषको भुला नहीं देता। वह परिस्थितिके अनुसार ही किसी व्यक्तिको धर्म-पालनका उपदेश देता है। एकबार मेरे एक विद्वान् मित्रने मुझसे कहा कि आपको यह मानना पड़ेगा कि बौद्ध धर्म जैन-धर्मकी अपेक्षा अपने स्वरूपमें अधिक व्यापक है। अर्थात् बौद्ध धर्ममें चारित्रका स्वरूप ऐसा है कि सब स्थितिके व्यक्ति उसका निर्वाह कर सके है। पर जैन धर्मके नियम ऐसे नहीं है। वे बहुत सख्त हैं।

मैंने उन्हे उत्तर दिया कि आपका यह भ्रम है। यथार्थमें जैनधर्मके चारित्र-नियमोंमें जितनी व्यापकता है उतनी बौद्ध धर्ममें तो क्या संसारके शायद ही किसी अन्य धर्ममें हो। ऊंचेसे ऊंचे, सख्तसे सख्त, नियम भी जैन धर्ममें हैं और बहुत हल्के सीधेसाधे, बाल, वृद्ध अज्ञानी सबके योग्य नियम भी जैन धर्ममें हैं। यहांतक कि एक चांडाल भी अपना चंडालकर्म करता हुआ जैनी हो सकता है। मुनियों और गृहस्थोंके लिये तो नियमोंका स्वरूप भिन्न भिन्न है ही, पर गृहस्थोंके भी अनेक दर्जे

हैं। जैन धर्म कहता है कि थोड़ा चारित्र तो क्या लेश चारित्रके न पालते हुए भी मनुष्य सच्चा जैनी, स्वर्गगामी और देवों द्वारा स्तुत्य हो सक्ता है, यदि वह धर्मके स्वरूपपर ही श्रद्धा करता है। इस समय उसमें चारित्र पालनेकी शक्ति नहीं है तो न सही। यदि उसकी श्रध्दा है तो कभी न कभी चारित्र भी आ ही जायगा। बतलाइये, कौनसे अन्य धर्ममें इतनी व्यापकता और उदारताका भाव है।

एक अंग्रेज विद्वान्ने सभ्य पुरुषकी परिभाषामें कहा है कि जिसमें किसी प्रकारकी हिंसाका भाव न हो वही मनुष्य सभ्य है। (A gentleman is one who has no tendency to do violence). जैन धर्म ऐसे ही जैन्टिलमैन तैयार करनेका प्रयत्न करता है, और इसके लिये वह विश्वप्रेमकी शिक्षा देता है। सब प्राणियोंमें मनुष्यसे लगाकर चींटी तक, नहीं नहीं, वृक्षों तकमें, वही परमात्माकी योग्यता रखनेवाला जीव है; अतएव इन सब प्राणियोंको अपने ही समान समझो। उनसे कठोरताका व्यवहार कभी मत करो। उनसे प्रेम करो। प्रेम ही धर्मका मूल है। जो मनुष्य प्रेमका सच्चा पाठ पढ़ा है वह कभी कोई पाप नहीं कर सकता, क्योंकि क्रोध, द्वेष, अहंकारादि कुभावनायें, जो पापकी जड़ हैं वे उसके हृदयमें स्थान नहीं पा सकतीं।

यह जैन धर्मका सैद्धांतिक और नैतिक स्वरूप है। इस पर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्ममें विश्वव्यापक और चिरस्थायी होनेकी योग्यता है। अब हम देखेंगे कि इस प्रबल धर्मको लेकर हमारे पूर्वजोंने उसे विश्वव्यापक और चिरस्थायी बनानेमें क्या प्रयत्न किये और वे कहांतक सफल हुए।

प्राचीन कालमें जैन धर्मकी उन्नति

ऋषभदेव तीर्थंकरके समयमें जब कालका स्वरूप बदला, कल्पवृक्षलुप्त हो गये, और समस्त प्रजा भयभीत हुई, तब जैन महारथियोंने ही उन्हें असि, मसि, कृषि, आदि षट्कर्मोंका उपदेश दिया। इस प्रकार युद्धविद्या, लेखनकला, कृषि वणिज्य-आदि सांसारिक उद्यमोंके आदि-प्रवर्तक वे ही जैनाचार्य हैं जिन्होंने उच्च वैराग्यका न केवल उपदेश ही दिया है, पर अपने आदर्श द्वारा उसे चरितार्थ कर दिखाया है। स्वयं ऋषभदेवकी पुत्री ब्राह्मी कितनी ही लिपियों और भाषाओंकी आविष्कर्त्री हुई। ऋषभदेवके पुत्र भरतचक्रवर्तीने तत्कालोचित वर्णव्यवस्था कर सबके लिये यथायोग्य धर्ममार्गका उपदेश दिया। उस समय जैनधर्मको सर्वव्यापी और सर्वजनोचित बनानेके और भी अनेक उपाय किये गये जो पुराणोंसे भलीभांति जाने जासकते हैं। पर यह बहुत प्राचीन, पौराणिक कालकी बात है। ऐतिहासिक समयमें आईये। महावीर तीर्थंकरके समयमें भारतवर्षमें हिंसा-यज्ञका जोर था, वर्णभेद बहुत संकीर्ण और कट्ठ हो गया था, नाना प्रकारके वितण्डावाद प्रचलित थे, मनुष्योंकी बुद्धि भ्रमित थी, सब ओर निराशा और त्राहि त्राहिकी आवाज सुनाई पड़ती थी।

महावीर स्वामीने तपस्या द्वारा जितेन्द्रिय होकर अपार आत्मचिंतन द्वारा केवलज्ञान प्राप्तकर भटकेहुए मनुष्योंको सुखके मार्गका उपदेश दिया। उन्होंने जो उदार सैद्धांतिक और नैतिक शिक्षा दी उसका हम ऊपर विवेचन कर आये हैं। उन्होंने हिंसा-यज्ञकी नीव हिलादी और वर्ण-संकीर्णताको मिटाकर ब्राह्मण

और शूद्रोंको गले मिलनेका उपदेश दिया। मुक्तिका द्वार सबके लिये ही खोल दिया। चारों ओर भ्रमण कर भिन्न भिन्न स्थानोंकी प्रचलित भाषाओंमें लोगोंको सच्चा मार्ग समझाया। शिष्टभाषा संस्कृतकी उन्होंने परवाह नहीं की, उन्हें तो पतितों, अधमों, अज्ञानियों और भूले भटकोंका उद्धार करना था। इस कार्यके लिये जो कुछ उचित और आवश्यक था वही उन्हें प्रिय था। उन्होंने मुनिसंघ स्थापित किये। मुनियोंका कर्तव्य था कि वे गृहस्थोंको उपदेश देकर उनकी देशकालानुसार धर्ममें रुचि बनाये रक्खें। उन्होंने अपने शिष्योंमें यह भावना भर दी कि भूले भटकोंको सुमार्ग पर लगाना उच्चतम धर्म है।

महावीर स्वामीकी आत्मा मोक्ष सुखका अनुभव करनेके लिये संसारसे चली गई, पर उनके उपदेश संसारी प्राणियोंके कल्याणार्थ प्रचलित रहे। उनके मुनि और गृहस्थ शिष्योंने उनके पश्चात् अपूर्व और अदम्य उत्साहसे धर्मोन्नति की।

आगामी थोड़ी ही शताब्दियोंमें जैनधर्म एक बार फिर भारतवर्षके उत्तरसे दक्षिण और पूर्वसे पश्चिम आसमुद्र व्याप्त हो गया। उनके शिष्योंमें न वर्ण-पक्षपातकी गंध थी, न देश-पक्षपातका भाव था, और न किसी विशेष भाषाभूषा आदिसे राग व द्वेष था। उनकी भावना थी एक मात्र धर्मोन्नति। इसके लिये उनके पास साधन थे, महावीर भगवान्का उच्च आदर्श, सिद्धान्तोंकी शुद्धता और लोक-व्यापकता, मनुष्यमात्रसे प्रेम और पारस्परिक ऐक्य। उन्होंने समदृष्टिसे आर्य, अनार्य, म्लेच्छ, सब लोगोंको जैन धर्मका उपदेशामृत पान कराया और उन्हें अपना बना लिया।

कथाओंसे पता चलता है कि कितने ही आचार्य तो यह नियम लेलिया करते थे कि हम जबतक इतने अजैनोंको जैन नहीं बना लेंगे तबतक भोजन नहीं करेंगे। इसके लिये उन्होंने अनेक प्रदेश घूमे, अनेक भाषाओंका अध्ययन किया, दूसरे धर्मोंके सिद्धान्तोंपर सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया, और उनका जैन सिद्धान्तोंसे मिलान किया। उन्होंने अनेक भाषाओंमें जैन-ग्रंथ लिखे और इस कार्य के लिये कई भाषाओंको तो पहले ही पहल उन्होंने साहित्यका रूप दिया। आजसे सवा दो हजार वर्ष पूर्वकी स्थितिपर विचार कीजिये। मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्तका साम्राज्य भारतवर्षमें था। ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म दोनों ही बहुत ज़ोर पर थे। उस समय यात्राके इतने अधिक सुभीते नहीं थे जितने अब हैं। आर्य और अनार्य वर्णभेदकी बहुत प्रबलता थी। ऐसे समयमें जैनाचार्य भद्रबाहु ने दक्षिण भारतकी यात्राका निश्चय किया—उसी दक्षिणभारतकी जो अनार्य द्रविड जातियोंसे भरा हुआ था। वहां पहुंचकर उन्होंने अपने धर्मका प्रचार किया। उनके शिष्योंने वहांकी अत्यन्त कठिन बोलचाल की भाषाओं, जैसे कनाड़ी, तामिल आदिका अध्ययन किया, और उन भाषाओंमें जैन ग्रंथ रचे। उन्होंनें दक्षिण के प्रदेशों में कितने ही शिक्षणालय, अनाथालय, औषधि-शालायें आदि सर्वोपकारी संस्थायें स्थापित कराईं। उन्होंने राजदरबारोंसे अपना सम्बंध बढ़ाया और वहां सन्मान पाया। उन्होंने कितने ही राजाओंको जैनी बना लिया, जिससे सहज ही धर्मका खूब प्रचार बढ़ा। जैनाचार्योंके इन उपायों और प्रयत्नोंके साथ आजकलकी क्रिश्चियन मिशनरीसोसाइटियोंके

साधनोंका मिलान करनेसे विदित होता है कि अपने धर्मप्रचारमें जिन उत्तम साधनोंका अवलम्बन ये सोसाइटियां ले रही हैं उन सबका उपयोग हमारे पूर्वजोंने किया था। आज क्रिश्चियन बाइबिल कोई पांचसौ भाषाओंमें अनुवादित हो चुकी है। जैन-धर्मके ग्रंथ भी भारतवर्षकी प्राचीन मुख्य मुख्य सभी भाषा-ओंमें पाये जाते हैं। दक्षिणकी कनाड़ी, तामिल आदि भाषाओंका तो साहित्यिक प्रारम्भ ही जैनाचार्योंके हाथोंसे हुआ है। उत्तर-भारतकी प्राकृत भाषाओं-जैसे मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश-आदिका रूप अब केवल जैन साहित्यमें ही पूर्णतः देखनेको मिल सकता है। दूसरेधर्मोंके तत्व जाननेकी जैनाचार्योंको जैसी प्रबल उत्कण्ठा रहती थी वह अकलंक निकलंककी जीवन-घटनाओंसे भलीभांति प्रगट होती है। अपने प्राण तक संकटमें डाल, इन जैनोद्धारकोंने गुप्त रीतिसे एक बौद्ध-विद्यालयमें भरती होकर बौद्ध धर्मका अध्ययन किया जिसके लिये उनको निकलंकके प्राणोंकी फीस देनी पड़ी। इस प्रकार अन्य धर्मोंका अध्ययन कर अकलंकदेवने जैन धर्मकी जो सेवा की वह इतिहास-प्रसिद्ध है। समन्तभद्राचार्यने गुप्त रूपसे एक बड़े भारी शैव-मंदिरमें पुजारीका कार्य किया और अंतमे जैनधर्मका महत्व लोगोंको दिखानेका अवसर मिलाया। जैनियोंकी स्थापित की हुई औषधिशालाओं आदि परोपकारी संस्थाओंके नमूने आज तक गुजरात और दक्षिणमें देखनेमें आते हैं। मैसूर प्रान्तके एक प्राचीन शिलालेखमें एक जैन द्वारा किसी धर्मप्रेमीकी स्मृतिमें एक वाचनालय स्थापित कराये जानेका उल्लेख है।

अवनतिका सूत्रपात

इस विषयको अब और अधिक बढ़ानेकी आवश्यकता नहीं। जो ऊपर कहा जा चुका है उसीसे बुद्धिमान् पाठक समझ जांयगे कि पूर्वकालमें जैनधर्मकी उन्नति किन कारणोंसे हुई थी। सूक्ष्ममें ये कारण थे-जैनधर्मकी सैद्धान्तिक और नैतिक दृढता, अनुकूलता और जैन-धर्मानुयायियोंमें धर्मप्रचारका अदम्य उत्साह, पारस्परिक प्रेम और ऐक्य, वर्णभेदकी संकीर्णताका अभाव, अपूर्व त्याग और देशकालोचित साधनोंका अवलम्बन। अब हमें इस अवस्था का आजकलकी अवस्थासे मिलान करने पर अपनी अवनतिके कारण और उसे रोकनेके उपाय सहज ही सूझ पड़ेंगे। जैनधर्मके सिद्धान्त वे ही हैं, उसका नैतिक स्वरूप वही है, उन्हीं पूर्वाचार्योंके ग्रंथ हम अब भी प्रमाण मानते हैं। अतएव धर्मके सैद्धान्तिक व नैतिक स्वरूपमें किसी प्रकारकी हीनताको हम अपनी अवनतिका कारण नहीं कह सकते। तब फिर शेष कारणोंमें ही हमारी अवनतिका बीज होना चाहिये। सो स्पष्ट ही है। हम आज भद्रबाहु, समन्तभद्र, अकलंक जैसे धर्मोद्धारकोंको जैन समाजमें नहीं पाते। उन सब साधनोंको, जिनके बलसे हमारे पूर्वोक्त आचार्योंने धर्मोन्नति की थी, हमारे आजके धर्मधुरंधर हेय समझते हैं। आज विदेशी भाषाओंका अध्ययन करना जैन पंडितोंकी दृष्टिमें तिरस्करणीय है, जैन ग्रंथोंका प्रेस द्वारा प्रचार करना अनुचित है, जैन समाजकी भिन्न भिन्न जातियोंको ऐक्यके सूत्रमें बांधनेका प्रयत्न करना 'वर्ण-संकरता' बढ़ाना है। उनकी समझमें विना कठिन चारित्र-

का पालन किये कोई जैनी हो ही नहीं सकता, चाहे वह कैसा ही श्रद्धावान् क्यों न हो।

जिस जाति-भेदकी भित्ति तोड़कर हमारे आचार्योंने जैन समाजरूपी विशालभवन निर्माण किया था, जिसके भीतर सब व्यक्ति एक गिने जांय व सब एक दूसरेके गले मिलें, वह विशाल भवन आज अनेक छोटी छोटी तङ्ग कोठारियोंमें विभक्त हो गया है। एक कोठारीवालोंको दूसरी कोठरीवालोंसे सम्बंध करना पाप है।

जैन समाजमें केवल दिगम्बर श्वेताम्बर भेद ही बड़ा भयानक था। उसके कारण ही धर्मोन्नतिमें न जाने कितनी बाधा पड़ी। पर अब तो इन दोनों टुकडोंके भीतर भी न जाने कितनी फांकें हो गई हैं। दिगम्बर संप्रदाय आज छिन्न भिन्न हो रहा है। उसके भीतर मतभेदने भयंकर रूप धारण कर लिया है। जति-भेद इस सीमाको पहुंच गया है कि एक ही आचारके सहधर्मी भाई एक साथ बैठकर भोजन भी नहीं कर सक्ते, विवाह संबंध करना तो बहुत दूरकी बात है। ईर्षा, द्वेष, कलह ने समाजको जर्जरित कर डाला है। कहांका प्रेम, कहांकी एकता, कहांकी धर्मोन्नति ? नये जैनी बनाना तो दूर रहा, प्रतिवर्ष हजारों जैनी अजैन बनते जा रहे हैं। ऐसी अवस्थामें धर्म-श्रद्धा होते हुए भी भला कौन नया आदमी इस समाजमें प्रवेश करना पसंद करेगा ?

हालहीमें मेरी एक अन्यधर्मी विद्वान्-मित्रसे बातचीत हुई, जिसमें मैंने उन्हें जैन धर्मका सर्वतोमुखस्वरूप समझाया।

उसे सुनकर वे आश्चर्यान्वित हो गये और बोले कि आप मुझे बिलकुल ही नई और केवल ख्याली बातें बता रहे हैं। कहां है वह जैन धर्मका सर्वतोमुख स्वरूप ? मैं तो जैन समाजमें बिलकुल ही इसके विपरीत व्यवहार देखता हूं। एक इसाई व मुसलमान अपने सहधर्मी भाईको, चाहे वह कहींका हो, कोई हो, अपने गलेसे लगा लेगा और उसके साथ एक थालीमें भोजन करेगा, पर जैनी तो सब एक साथ बैठकर भोजन भी नहीं कर सकते। ईसाई और मुसलमान यदि और नहीं तो वर्षमें दो चार बार एक स्थानमें इकट्ठे होकर ईश्वरकी इबादत करते हैं, पर कई जैनियोंको तो एक दूसरी जातिके मंदिरमें जानेकी सौगन्ध ही रहती है। पशुपक्षीका छुआ हुआ शायद जैनी खा सकता है, पर एक अन्य जातिवालेका छुआ पानी भी पीना जैनीके लिये पाप है। यह कैसी हृदयकी विशालता है ? वह कैसा आत्मिक धर्म, कैसी आत्माकी शुद्धता और कैसी भावोंकी उदारता जो दूसरे आदमीके छूनेमात्रसे छूमंतर हो जाय? यदि दूसरेके साथ बैठकर खानेपीनेसे ही किसीका धर्म नष्ट हो जाता हो तो इतना कमजोर, ऐसा चञ्चल धर्म ही किस कामका ? ऐसे धर्मको हम कैसे विश्वधर्म मान लें ? इत्यादि।

इनमेंसे कई बातोंका उत्तर मैंने अपने उन मित्रको दिया। पर यथार्थमें उनका वह वाक्य मेरे हृदयमें शूलकी तरह चुभ गया। कहां है वह जैन धर्मका सर्वतोमुख स्वरूप? इसी एक वाक्यमें हमारी उन्नति और अवनतिका बीज छुपा हुआ है। हमने अपने धर्मके उदार स्वरूपके अनुसार व्यवहार करना छोड़ दिया, इस लिये हमारी अवनति हुई। यदि हम उस

स्वरूपको समझकर उसके अनुसार कार्य करने लगें तो हमारी उन्नतिमें देर नहीं है।

एक यूरोपीय विद्वान्ने, जिन्होंने जैन धर्मका अच्छा अध्ययन किया है, अपने एक लेखमें कहा है कि जैन धर्म महत्वपूर्ण बातोंसे खाली नहीं है, पर उसकी हीन अवस्थाका कारण यह है कि वर्तमानमें एक तो उसके अनुयायी उसके उदार भावोंके अनुसार चलते नहीं हैं और दूसरे वे उसका सच्चा स्वरूप संसारको समझानेका प्रयत्न नहीं करते।

आज संसारमें इतने धर्म, इतने मत, फैले हुए हैं कि साधारणतः कोई किसी धर्म विशेषको समझनेका कष्ट उठानेकी आवश्यकता नहीं समझता। यह प्रत्येक धर्मवालोंका ही कर्तव्य है कि वे अपने धर्मका स्वरूप दूसरोंको उनकी भाषाओंमे समझायें। यदि आप शान्त और निष्पक्ष भावसे विचार करेंगे तो आप अवश्य इस नतीजे पर पहुचेंगे कि यदि आज हमारे वही पूर्व धर्मोद्धारक समन्तभद्र व अकलंकदेव जैसे आचार्य इस भूतल पर होते तो वे धर्मप्रचार के हेतु अवश्य अंग्रेजी भाषाका अध्ययन करते, क्यों कि यह भाषा आज संसारव्यापक हो रही है। वे आचार्य अवतक इस भाषामें न जाने कितने ग्रंथ रच डालते जिससे जैन धर्मकी कीर्ति संसारमें जगमगा उठती। आवश्यकता अब इसी बातकी है कि समाजमें जैनधर्मके उदारभावोंकी जागृति की जाय और संकीर्णता भुलाई जाय। जैन समाजके नवयुवक विद्यार्थियोंके लिये ऐसे छात्रालयोंकी आयोजना की जाय जहां वे जातीय संकीर्णताके भूतसे बचकर अंग्रेजी

भाषाके साथ साथ अपने धार्मिक ग्रंथोंका भी अध्ययन करें जिससे वे जैनधर्मकी महत्ताको समझें और विदेशी संस्कारोंसे बचें। ऐसे विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त कर जैन धर्मका अंग्रेजी भाषा द्वारा देश विदेशमें प्रचार कर सकेंगे।

इस समय धर्मोन्नतिका बहुत अच्छा अवसर है। संसार-में-धर्म जिज्ञासा फैल रही है, अहिंसाका सिद्धांत संसारव्यापी हो रहा है। ऐसे समयमें यदि जैन समाज नहीं चेती तो निस्सं-देह उसकी एक शताब्दिमें वही अवस्था होगी जो उसकी दिन प्रति घटती हुई जनसंख्यासे बोधित होती है। या तो जागो और मिलजुलकर प्रयत्न करो या चुपचाप संसारसे अपना अस्तित्व मिटा डालो।

संस्कृति-रक्षा

इस समय जैन समाज के सन्मुख संस्कृति-रक्षा का प्रश्न उपस्थित है। अब विचारने की बात यह है कि संस्कृति का क्या तात्पर्य है और उसकी हमें किस प्रकार रक्षा करना चाहिये। संस्कृति के सम्बन्ध में लोगों में बहुत भिन्न भिन्न विचार प्रचलित हैं। कोई व्यक्तिगत जीवन के प्रकार को संस्कृति कहते हैं। उनके मत से मनुष्य कैसे घर में रहता है, कैसे वस्त्र पहनता है, कैसे उठता बैठता है, क्या और किस प्रकार के साधनों द्वारा व्यापार धंधा करता है, इत्यादि बातें ही संस्कृति कहलाती हैं, और उनकी जो परम्परा प्राचीन काल से चली आई है उसीको नियत रखना संस्कृति की रक्षा कहना चाहिये। दूसरे ऐसे मनुष्य हैं जो व्यक्तिगत नहीं, किन्तु सामाजिक मानताओं व रीति रिवाजों को संस्कृति समझकर उनकी प्राचीन परम्परा की रक्षा करना चाहते हैं। ये लोग जाति-पांति-भेद, विवाहों के विधि-विधान पारस्परिक खानपान व्यवहार आदि बातों के हेरफेर में संस्कृति की हानि देखते हैं। एक तीसरा दल है जो धार्मिक बातों, जैसे मूर्ति-पूजन, शास्त्र-स्वाध्याय, नियम-व्रत आदि को ही संस्कृति मानते और उनकी रक्षा करना चाहते हैं। और चौथे ऐसे भी विचारक हैं जो केवल संसार के स्वरूप व आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी सिद्धान्तों को ही समाजकी संस्कृति मानते हैं। विचार करने पर ज्ञात होगा कि ये सभी बातें संस्कृति के

अन्तर्गत तो हैं, पर उनकी कहांतक और किस प्रकार से रक्षा करना हमारे लिये हितकारी होगा इसका निर्णय करना बड़ी कठिनाई का काम है। यदि हम पूर्वोक्त चारों प्रकारकी बातों को सदैव एकसी बनाये रखने को ही संस्कृति-रक्षा कहें तो हमें या तो यह कहना पड़ेगा कि संस्कृति-रक्षा जड़ता और बुद्धिहीनता की निशानी है, या यह मानना पड़ेगा कि नये आविष्कार व उन्नति तथा विचारों में विकास और परिवर्तन अधःपतन का चिन्ह है। हम चाहे जो कुछ समझें, किन्तु विद्वत्संसार आज यह मानता है कि मनुष्य के जीवन में विकास होता चला जा रहा है, वह दुःख की अवस्था से सुख का मार्ग ढूंढ रहा है, आज किसी भी क्षेत्र में हमे पूर्णता प्राप्त नहीं है, और जबतक पूर्णता नहीं है और मनुष्य अपनी बुद्धि से काम लेता रहेगा, तबतक उसके जीवन की प्रत्येक धारा में परिवर्तन होना अनिवार्य है। जिन्होंने अपनी बुद्धि से काम लेना और उचित परिवर्तन करना छोड़ दिया उनका संसार में कायम रहना कठिन है।

तब हम किस प्रकारसे संस्कृति की रक्षा करें और साथ ही दुनियांमें कुछ लायक बने रहें? प्रथम तो हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि वैयक्तिक सुख और सामाजिक उन्नति के लिये वैज्ञानिक शोधों तथा विद्वानों के अनुभव और निश्चित विचारों के अनुसार गार्हस्थ्य जीवन व सामाजिक रीतिरिवाजोंमें उचित हेरफेर करना आवश्यक है। इसी प्रकार हमें अपनी धार्मिक मानताओं व दार्शनिक सिद्धान्तों को सामयिक युक्ति और तर्क की कसौटी पर सदैव कसते रहना चाहिये और उनमें जहां

शिथिलता या विषमता दृष्टिगोचर हो वहां उचित विचार और मथन के लिये द्वार खुला रखना चाहिये। हमें अपना गौरव इसमें नहीं समझना चाहिये कि हम आज ठीक वहीं पर खड़े हैं जहां हमारे पूर्वज दोसौ या दो हजार वर्ष पूर्व खड़े थे, और इतने समय के बीच में हमने अपनी बुद्धिसे कोई काम नही लिया। किन्तु हमें सदैव आगे बढने का प्रयत्न करना चाहिये और अपना महत्व इसमें मानना चाहिये कि हम इतने दिनों में कितने मंज़िल आगे बढे। संस्कृति-रक्षा का मैं यही सबसे उत्तम और वांछनीय प्रयोजन समझता हूं! हमें सदैव ऐसे साधनों और प्रमाणों कि रक्षा करना चाहिये जिनसे हमारी पूर्व संस्कृतिके तारतम्य का पता लगता रहे। जैन समाजमें कब, कैसा और किसके द्वारा संस्कार हुआ, उसमें समय समयपर कैसी मानताओं का प्राबल्य रहा, कब कैसे सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये और उनको कहांतक विस्तार दिया गया, जैनियोंने कब कैसी संस्थायें स्थापित कीं, उनके द्वारा समाजका क्या उपकार हुआ, कला कौशल की कब कितनी तरक्की हुई, इत्यादि बातों के जीते जागते प्रमाण सुरक्षित रखना ही मैं उपादेय संस्कृति-रक्षा समझता हूँ।

साहित्योद्धार

इस प्रकारकी संस्कृति-रक्षाके हमारे पास इस समय दो साधन मौजूद है, एक तो हमारा वाङ्मय अर्थात् साहित्य और दूसरा अन्य प्राचीन स्मारक, जैसे, शिलालेख, मूर्तियां, आदि। जैनियों ने एक ओर साहित्यनिर्माण में अद्वितीय परिश्रम किया

है, तो दूसरी ओर असाधारण प्रमाद भी दिखलाया है। कहां तो महावीर स्वामीके समयमेंही जैनियों का समस्त ज्ञान बारह अंगों में विरचित होगया, और फिर कहां वह धीरे धीरे लुप्तप्राय होगया? पश्चात् के आचार्योंनेभी भिन्न भिन्न समयपर भिन्न प्रदेशों में, अनेक विषयोंपर भिन्नभिन्न भाषाओं में कठिन व सरल दोनो प्रकार के ग्रंथ रचे। पर इनका शायद शतांश भी अभी हमारे सामने प्रस्तुत नही है। अनेक ग्रंथ तो अनन्त की गोद में विलीन हो चुके और अनेक अवभी कहीं कहीं वन्द कोठरियों में अपनी काया गला रहे हैं या चूहों व दीमक द्वारा खाये जा रहे हैं। ऐसा समय आया कि धवल जयधवल आदि जैसे महत्वपूर्ण सिद्धांत ग्रंथोंकी भी संसार भरमें केवल एकही प्रति अवशेष रह गई और वह भी शताब्दियोंतक अध्ययन का साधन न रहकर पूजा की वस्तु वन गई। भारतीय भाषाओं के भिन्न भिन्न समय की रूपरेखा को बतलानेवाले, तथा इतिहास पर अच्छा प्रकाश डालनेवाले ग्रंथों का पठन पाठन बिलकुल ही वन्द हो गया। उनकी न तो कापियां करने की प्रथा रही और न किसी में शुद्ध कापी कर सकने व समझने का सामर्थ्य। मेरी समझ में इन प्राचीन ग्रंथों को प्रकाश में लाना संस्कृति रक्षा का सब से भारी और महत्वपूर्ण कार्य है। इसके द्वाराही हम अपना सच्चा पूर्व गौरव और क्रमिक विकास समझ सकते हैं तथा दूसरों को भी अपनी पूर्व संस्कृति का कुछ सच्चा ज्ञान करा सकते हैं।

इस साहित्योद्धार के कार्यको हम दो भागोंमें बांट सकते हैं। एक ओर तो हमें अज्ञात साहित्यकी खोज करना चाहिये

और दूसरी ओर ज्ञात साहित्यका प्रकाशन। अभी नागोर आदि कितनेही शास्त्र भंडार ऐसे हैं जो वर्षोंसे खुले नहीं और जहां के ग्रंथोंका अभीतक हमें कुछभी परिचय नही है। ऐसे ग्रंथोंको देखकर उनकी सूची आदि बनाना चाहिये और उनको आगे सुरक्षित रखनेकी व्यवस्था करना चाहिये। इस सम्बन्धमें मैं पाठकोंका ध्यान इस बातपर आकर्षित करना चाहता हूं कि प्राचीन ग्रंथोंको सुरक्षित रखने और उनकी कापियां सुलभ करने का हमे आजकल एक बहुत अच्छा साधन उपलब्ध है। लिखित कापी कराकर ग्रंथोद्धार करना आजकल बड़ा कठिन है। लेखकों को पुरानी लिपि पढनेका अभ्यास नहीं रहता, इससे वे शुद्ध लिख नही सकते। भंडारोंसे ग्रंथ दीर्घ समयके लिये मिलना कठिन होता है, इससे वे जल्दी में लिखे जाते हैं। और फिर एकसे दूसरी कापी करानेमें वही कठिनाई उपस्थित होती है। खर्चभी बहुत लगता है। मैंने प्राकृत ग्रंथोंकी कुछ आधुनिक ऐसी अशुद्ध प्रतियां देखी हैं जिनपरसे उस ग्रंथका संशोधन करना उसी भाषामें नया ग्रंथ लिखनेसेभी अधिक कठिन है। उनके संशोधन के लिये अन्य आदर्श प्रतियोंकी आवश्यकता बनी ही रहती है। अतएव हमें प्राचीन ग्रंथोंकी कापियां अब फोटो द्वारा कराना चाहिये। ग्रंथों का फोटो बहुत जल्दी और बिलकुल उसी रूप में सुलभतासे लिया जा सकता है। हजारों पृष्ठोंके ग्रंथको आप कुछ घंटों में फोटोग्राफ करा सकते हैं, और निगेटिव सुरक्षित रखकर जब जितनी प्रतियां आप चाहे छाप सकते हैं। इसके पश्चात् आदर्श प्रतिकीभी कुछ जरूरत शेष

नहीं रह जाती। यदि वह उसी क्षण नष्टभी होजाय तो हमारे साहित्य को लेशमात्र भी क्षति नहीं पहुंचेगी।

जो साहित्य इस प्रकार से हमें ज्ञात हो जावे उसे धीरे धीरे संशोधित कराकर प्रकाशित करना साहित्य का दूसरा भाग है। इस ओर अनेक ग्रंथमालायें कार्य कर रही हैं। माणिकचंद्र ग्रंथमाला ने जैन साहित्य की अपूर्व सेवा की है, और इस सफलताका श्रेय ग्रंथमाला के मंत्री, प्रतिभाशाली साहित्योद्धारक पंडित नाथूरामजी प्रेमी को है। उनके द्वारा इस ग्रंथ-माला में अबतक लगभग चालीस ग्रंथ नई खोज के प्रकाशित हो चुके हैं और कई छप रहे है। अपभ्रंश साहित्य के उद्धार के हेतु कारंजा जैन ग्रंथमाला को जन्म देकर श्रीमान् गोपालसावजी चवरे ने जैन साहित्य का बड़ा उपकार किया है। इस ग्रंथमालासे अबतक चार ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। दूसरी ओर श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचंद्रजी भेलसावालोंने धवल जयधवल ग्रंथों के संशोधन-प्रकाशन के लिये एक अच्छे दान का ट्रस्ट रजिस्ट्री करा दिया है। धवलादि ग्रंथों का संशोधन प्रकाशन जितना महत्वपूर्ण है, उतनाही कठिनभी है। मुझे यहां यह प्रकट करते हर्ष होता है कि इसका संशोधन कार्य प्रारम्भ हो चुका है। और यदि समय और परिस्थिति अनुकुल बनी रही तो शीघ्र ही इसका एक खंड प्रकाशित भी होगा। प्राचीन साहित्य के प्रकाशन की भावना आज अनेक हृदयों में उठ रही है और सबसे आनन्द की बात यह है कि यह भावना कुछ उन लोगोंके हृदयमेंभी है जो ग्रंथभंडारोंके अधिपति हैं। उदाहरणार्थ, कारंजा का प्रमुख शास्त्रभंडार

बलात्कार गणका है, और इस गणके नेताओं ने अपनी एक ग्रंथमालाभी प्रारंभ की। पर दुःख का विषय है कि इस माला में धनाभाव के कारण केवल एकही ग्रंथ प्रकाशित हो सका है और वहभी अमरावती के श्रीमान् नागोसावजी के दानसे। ये सब साहित्योद्धारक हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। आवश्यकता की दृष्टि से इस क्षेत्रमें अभी बहुत ही कम कार्य हुआ है व हो रहा है। इसके लिये हमें काशी की नागरी प्रचारिणी सभा जैसी एक संस्था स्थायी कायम करना चाहिये जो अज्ञात साहित्य की खोज और ज्ञात साहित्य का प्रकाशन सुव्यवस्थित रूप से कर सके। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि आरा के प्रमुख रईस और हमारी समाज के एक अग्रगण्य धनी और कर्णधार श्रीमान् सेठ निर्मलकुमार व उनके भाई चक्रेश्वर कुमार जी ने अपने जैन-सिद्धान्त-भवन से "जैन सिद्धान्त" भास्कर नामकी त्रैमासिक पत्रिका पुनः प्रकाशित कराना प्रारम्भ कर दिया है। इस पत्रिका के द्वारा भी प्राचीन साहित्य प्रकाशन में बड़ी सहायता मिलेगी, ऐसी आशा की जा सकती है।

प्राचीन साहित्य के उद्धारके साथ साथ हमें एक और कार्यकी आवश्यकता है, और वह है, सुंदर और उपयोगी नवीन साहित्यका निर्माण। प्राचीन ग्रंथोंके सुंदर अनुवादों तथा जैन आचार, जैन दर्शन, जैन इतिहास व पुरातत्व आदि विषयक नवीन ग्रंथोंकी अभी बड़ी कमी है-एक प्रकारसे अभावही है। संसारमें तथा विशेषतः अपनेही देश और समाजमें जैन संस्कृति की जानकारी बढानेके लिये आजकलकी भाषाओंमें ऐसे ग्रंथ निर्माण कराये जानेकी आवश्यकता है। इस ओर सुयोग्य और

परिश्रमी विद्वानोंको उत्तेजन दिलानेके लिये हमें कुछ अच्छे पुरस्कारों की व्यवस्था करना चाहिये। अभीभी कभी कभी ऐसे साहित्यके निर्माणार्थ कुछ पुरस्कारोंकी घोषणा होती सुनी जाती है, पर इस चिल्लर उत्तेजनासे अभीष्टकी यथार्थ सिद्धि नही होती।

प्राकृत भाषाका अध्ययन

यह समय बड़ी कठिनाई का है। प्राचीन संस्कृत प्राकृत भाषाओं और उनमें लिखे धार्मिक ग्रंथों के पठन पाठन की हार्दिक इच्छा दिनों दिन कम होती जाती है। अनेक वर्षोंसे जैनियों की यह पुकार थी कि जैन ग्रंथ यूनीवर्सिटियों के कोर्सों में नियुक्त किये जाना चाहिये। अब जैनियों की खास भाषा प्राकृत व उस भाषा के लिखे ग्रंथों की पढाई के लिये यूनीवर्सिटियोंने खास कोर्स नियत कर लिये हैं। किन्तु खेद है कि इनके पढनेवाले ही कोई साम्हने नहीं आते। नागपुर विश्वविद्यालय ने प्राकृत के कोर्स कई वर्षों से एफ. ए., बी. ए. व एम. ए., के लिये बना रखे हैं। पर अभी तक किसी ने इन कोर्सों से लाभ उठानेका प्रयत्न नहीं किया। यूनीवर्सिटी ने अंग्रेजी न जाननेवाले विद्यार्थियों के लिये प्राकृत के कोर्स भी रक्खे हैं। यदि मांग होतो जैन न्याय व सिद्धान्त के कोर्स भी रक्खे जा सकते हैं। पर इनसे भी कोई लाभ उठाता नहीं दिखाई देता। प्राकृत भाषाओं के योग्य विद्वानों की बड़ी कमी होने के कारण हमारे प्राचीन साहित्य का संशोधन भी बहुत ही धीरे धीरे हो रहा है। अतएव इन प्राकृत कोर्सों का अध्ययन

करने के लिये भी कुछ उत्तेजना दी जाने की आवश्यकता है। जैन पाठशालाओं तथा महाविद्यालयों में प्राकृत भाषा का कोर्स भी रखा जाना चाहिये। उत्तेजना के लिये प्राकृत पढने वाले तथा उसमें अच्छी योग्यता से पास होने वाले विद्यार्थियों के लिये कुछ खास छात्रवृत्तियाँ और पुरष्कारों की योजना की जाना चाहिये। अभी जो छात्रवृत्तियां जैन फंडों से दी जाती हैं वे प्रायः केवल गरीब विद्यार्थियों की सहायतार्थ दी जाती हैं। उनसे छात्रों में जैन संस्कृति के सम्बन्ध की कुछ योग्यता प्राप्त कराने का कार्य नहीं सधता। मेरी रायके अनुसार छात्रवृत्तियां दो प्रकार की नियत करना चाहिये-एक तो गरीब विद्यार्थियों की सहायतार्थ, और दूसरी प्राकृत व जैन सिद्धान्त में योग्यता प्राप्त करने के निमित्त। इस दूसरे प्रकारकी वृत्तियों द्वारा हम प्रतिवर्ष प्राकृत भाषाके कुछ बी. ए., व एम. ए., पास विद्यार्थी तैयार कर सकते हैं, जिनसे साहित्योद्धार के कार्य की कुछ आशा की जा सकती है।

जैनियों में शिक्षा बढाने के लिये छात्रवृत्तियों की बड़ी आवश्यकता है। इस कार्य में भी बम्बई के माणिकचंदजी द्वारा स्थापित जुबिली बाग ट्रस्ट फंड की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इस फंड के द्वारा न जाने कितने गरीब जैन विद्यार्थी पढ लिखकर आज उच्च पदोंपर पहुंच चुके हैं। इस आवश्यकता को हमारे प्रिय बन्धु वैरिस्टर जमनाप्रसादजी सबजज ने खूब अनुभव किया है और अत्यंत हर्षका विषय है कि उन्होने प्रेरणा करके भेलसा के श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचंदजी द्वारा एक बारह हजार का फंड छात्रवृत्तियों के लिये स्थापित

कराया है इसके लिये उक्त दोनो वन्धु अभिनंदनीय हैं। क्या हम आशा करें कि यह फंड जुबिली बाग ट्रस्ट फंड के समान समाज की चिरस्थायी सेवा करेगा ?

जैन कॉलेज

चूंकि यहां मैं जैनियोंमें शिक्षा बढाने के विषयपर आगया हूं, अतएव यहां एक और महत्वपूर्ण विषय पर अपना मन्तव्य प्रकट करदेना उचित समझता हूं। इधर कई दिनों से एक जैन कालेज की स्थापना की चर्चा समाज में चल रही है। कुछ वर्ष पूर्व इस कार्य के लिये हमारे पूज्य विद्वान् श्री गणेशप्रसादजी वर्णी तथा दीपचन्दजी वर्णी ने जी तोड़कर परिश्रम किया था। इस कार्य के लिये वे समाज भर में खूब घूमे, यहांतक कि इस परिश्रम से उनके स्वास्थ्यको भी क्षति पहुंच गई। पर अन्ततः फल कुछ न हुआ और उसकी चर्चा एक प्रकारसे बन्दसी हो गई। पर अभी अभी हमारे मान्य और सुयोग्य विद्वान् पं. अजितप्रसादजीने इस विषयको पुनः जीवित किया है। कौनसा ऐसा हृदय होगा जो कालेज जैसी एक अपनी संस्था स्थापित होने की आशा से फूल न उठे? यथार्थतः समाज में व देश में उच्च शिक्षा बढाने के लिये जितनी संस्थायें स्थापित की जा सकें उतना ही अच्छा है। पर विचार करनेकी बात केवल यही है, कि हम कहांतक ऐसी संस्था को स्थापित कर सकते, चला सकते तथा उसके द्वारा जैन संस्कृति को लाभ पहुंचा सकते हैं? सारी जैन समाज संख्या में केवल दस-बारह लाख ही है, वह भी सारे देशभर में तितर वितर फैली हुई

है। उसमें भी दिगम्बर, श्वेताम्बर व स्थानकवासी जैसे कट्टर और परस्पर विद्वेषी सम्प्रदायें वर्तमान हैं और अपनी अपनी विशेषता कायम रखनेपर तुले हुए हैं। एक एक संप्रदायके भीतर भी जाति–भेद और गण–भेद के ऐसे ऐसे परदे पड़े हुए हैं कि उनमें परस्पर प्रेम, सहानुभूति व एकत्व की मात्रा बहुतही कम है। कितने खेद की बात है कि एक ही जाति के भीतर केवल गण का भेद, जैसे सेन–गण या बलात्कार–गण, पड़जाने से या मूर्ति–पूजक व समैया भेद हो जाने से, न केवल उनमें कोई सहभोज नही हो सकता, बल्कि विद्वेष और झगड़ा बढता दृष्टि-गोचर होता है। ऐसी अवस्था में कालेज जैसी संस्था को धार्मिक व सामाजिक दृष्टि से सफल बनाना मुझे तो बड़ी टेढी खीर दिखाई देती है। अतएव इसके पूर्व कि हम ऐसी संस्था को जन्म देनेका उपाय करें, हमको इससे कुछ छोटी बातों में सफलता प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। मैं तो जैन समाज के लिये कालेज या यूनीवर्सिटी खोलने की अभिलाषा को तभी कुछ युक्ति-संगत समझ सकूंगा जब समस्त जैन समाज पारस्परिक विद्वेषको मिटाकर अपनेको एक समझने लगे, साम्प्रदायिक भेदोंपर जोर देना छोड़ दे, तथा एक ही प्रकार के संस्कार और आचार व्यवहार की कदर करने लगे। और ऐसी परिस्थिति निर्माण हो जानेका विश्वास हमें तब होगा जब ये सब सम्प्रदाय, छात्रवृत्ति, छात्रालय, साहित्यप्रकाशन व नूतन साहित्य निर्माण व धार्मिक प्रचार आदि कार्यों में सहयोग करने लगें। वर्तमान परिस्थिति में, मेरे ध्यानसे, छात्रवृत्तियों तथा छात्रालयों द्वारा जैन बालकों व युवकोंको उच्च शिक्षा प्राप्त करने में

सहायता पहुंचाई जा सकती है, तथा उन्हें जैन संस्कृतिका ज्ञान कराया जा सकता है। यदि कोई विद्यालयही स्थापित करना है तो आजकल की परिस्थिति में कुछ औद्योगिक शिक्षा के प्रवन्ध कर देनेसे समाजका अधिक लाभ हो सकता है।

जैन संग्रहालय

अब मैं जैन संस्कृति की रक्षा के दूसरे साधन अर्थात् शिलालेख व मूर्ति-मंदिरों आदि के विषयपर आता हूं। अखिल भारतीय परिषद् जैन इतिहास तैयार कराने के सम्बन्ध में कई वार प्रस्ताव कर चुकी है और इस ओर परिषद् के पत्र 'वीर' के सुयोग्य सम्पादक कामताप्रसादजीने बहुत कुछ प्रयत्न भी किया है। इतिहास संशोधनके कार्य में परिषद्ने मुझ पर भी कुछ बोझ डाल रखा है। मैने इस विषयपर बहुत विचार किया है, और यथाशक्ति जैन इतिहास विषयक बातोंका अध्ययन भी किया है। मुझे निश्चय है कि जबतक जैनियों के समस्त शिला-लेख सुचारु रूपसे एकत्रित करके प्रकाशित न किये जांयगे, प्राचीन जैन आचार्यों के ग्रंथों में प्राप्त प्रशस्तियां एकत्र न की जाँयगी, ऐतिहासिक दृष्टिसे उपयोगी प्राचीन ग्रंथ सुप्रकाशित न किये जाँयगे तथा जैनियों के प्राचीन स्थानोंका पूर्ण अध्ययन न किया जायगा, और फिर उपर्युक्त सामग्रीका इतर समाजों के ग्रंथों आदिसे प्राप्य सामग्रीका मुकाबला नही किया जायगा, तबतक सच्चा प्रामाणिक जैन इतिहास नही लिखा जा सकता। जो कुछ लिखा भी जायगा वह या तो पिष्टपेषण ही होगा या अप्रामाणिक, अनधिकार चेष्टा। अतएव हमें शिलालेखादि-संग्रह

की ओर ध्यान देना चाहिये। कई पुरातत्व सम्बन्धी सरकारी व इतर पत्रिकाओं में जैनियों के अनेक शिलालेख निकल चुके हैं। उन्हे एकत्रित कर क्रमवार प्रकाशित कराना चाहिये। भारतीय सरकार द्वारा प्रकाशित 'एपीग्राफिया इंडिका' तथा 'एपी ग्राफिया कर्नाटिका' 'इंडियन एंटिक्वेरी,' 'मैसूर पुरातत्त्व रिपोर्ट' आदि पत्रिकाओं में जैनियों के अनेक शिलालेख निकल चुके हैं। कितनेही स्थानों पर अनेक शिलालेख पाये जाते हैं, जिनपर अभीतक विद्वानों ने विशेष ध्यान नही दिया। झांसी जिले के देवगढ क्षेत्र मेंही लगभग दो सौ शिलालेख विद्यमान हैं। अभी-तक इनके पढे जाने का समुचित प्रबन्ध नहीं हुआ है। यह कार्य अत्यन्त महत्व का है।

जो मूर्तियां व खंडहर इधर उधर पाये जाते हैं उनके लिये हमें एक ऐसा भवन बनाना चाहिये जहां मूर्तियां सुव्यवस्थित रखी जासकें तथा पुरातत्त्व व प्राचीन कला के नमूने संग्रह किये जासकें। इस संस्थासे एक तो हमारे इन स्मारकों की रक्षा होगी और दूसरे हमारे पास एक ऐसा स्थान हो जावेगा जहां हमारे पुरातत्व की सब सामग्री संग्रही हो। किसी प्राचीन स्थानपर मूर्ति या मंदिरका खंडहर पाये जानेपर फौरन उसके उद्धार के लिये चन्दा वसूल करने लग जाना उचित नही। यदि वह मूर्ति या खंडहर कला या इतिहास की दृष्टि से कुछ महत्व रखते हों और उनका उस स्थान से अविनाभावी सम्बन्ध हो, तभी वहां उद्धार की योजना करना चाहिये। अन्यथा उसी एक भवन में वहां की सब उपयोगी सामग्री भेज देना चाहिये। आजकल अनुपयोगी स्थानों पर उद्धार के काम में

बहुत धन और शक्ति का अपव्यय हो रहा है। कुल तीर्थ स्थानों का एक एक सर्वांगपूर्ण इतिहास संग्रहीत करके सचित्र प्रकाशित कराना चाहिये। यह, जानकारी के लिये, तथा इतिहास के लिये, बहुत उपयोगी कार्य है। मुझे यह प्रकट करते बहुत हर्ष होता है कि हमारे बड़े इतिहास-प्रेमी श्रीमान् सिंघई पन्नालालजी ने भातकुली क्षेत्र का एक सर्वांग सुन्दर इतिहास लिखा है जो शीघ्रही प्रकाशित होगा। मैं आशा करता हूं कि वह इतिहास अन्य क्षेत्रों के इतिहास-निर्माण के लिये पथ-प्रदर्शन का कार्य करेगा।

जैन संस्थाएँ

इसी सम्बन्ध में मैं एक और महत्वपूर्ण प्रश्न पर अपना मत प्रकट कर देना उचित समझता हूँ। यह बात यहां किसी से छुपी हुई नहीं है कि जैनियों के मंदिरों व अन्य धार्मिक संस्थाओं की साम्पत्तिक व्यवस्था कई वर्षों से बहुत शिथिल हो गई है। पहले जब पंचायत का प्राबल्य था और सामाजिक या जातीय बहिष्कार का भारी डर रहता था तब इन संस्थाओं का प्रबन्ध एक प्रकार से ठीक चल सकता था। किन्तु जब से पंचायत शक्तियां शिथिल हो गई हैं और जातीय बहिष्कार का उतना डर नहीं रहा है तबसे मन्दिर आदि के प्रबन्ध और हिसाब किताब में बड़ी त्रुटियां रहने लगी हैं। जिनके हाथ में एक बार प्रबन्ध की बागडोर या द्रव्य पहुंच जाता है, वे उसे अपनी निजी सम्पत्ति समझ बैठते हैं, और फिर समाज की इच्छा की अवहेलना करने लगते हैं। परिषद् ने अनेक बार

यह प्रयत्न किया कि सब जगह के मन्दिरों का हिसाब किताब संग्रह करके प्रकाशित किया जाय और जिनके ऊपर मन्दिरों का कर्जा है उनसे वसूल करके उसके समुचित उपयोग का उपाय किया जाय। किन्तु इस कार्य में परिषद् को जरा भी सफलता नही मिली। कोई हिसाब किताब देने को राजी ही नही है। मन्दिर के कर्जे का तकाजा करने वाले को वे अपना शत्रु समझ बैठते हैं। अनेक जगह यही मंदिरोंका हिसाब-किताब सामाजिक फूट और विद्वेष का कारण बन रहा है। तात्पर्य यह कि पंचायत शक्ति टूट जाने से इन सार्वजनिक संस्थाओं के प्रबन्ध में पूरा नियंत्रण और शासन रखनेकी शक्ति समाज में नही रही। इसी प्रकार की परिस्थिति हिन्दू समाज में भी विद्यमान है। और इसी दुर्दशा के सुधारने के लिये बम्बई प्रान्त में एक कानून पास होगया है। उसी के समान कानून सी. पी. प्रान्त की कौंसिल के सन्मुख भी पेश है। इस कानून का तात्पर्य केवल यही है कि धार्मिक संस्थाओं के द्रव्य को कोई हड़प न कर सके और प्रतिवर्ष प्रबन्धकों को संस्था के आय-व्यय का हिसाब सरकार को समझाना पड़े। जब समाजमें इन संस्थाओं के सुप्रबन्ध की शक्ति नही है, उनके लिये उन्हे दिनरात झगड़ना पड़ता है, आपसी फूटों में पड़ना पड़ता है और फिर अन्ततः सरकारी अदालतों की ही शरण लेना पड़ती है, तब फिर इसमें क्या बुराई है कि हम प्रबन्धकों की इस उच्छृंखलता के नियन्त्रण के लिये सरकार को हिसाब लेनेका अधिकार दे दें, और स्वयं उपर्युक्त कुल बुराइयों से वच जावें। मेरी राय में जिन जैनियों

को इस निर्माल्य द्रव्य से स्वार्थ और मोह नही है उन्हे इस बिल का स्वागत करना चाहिये।

समाज–सुधार

भारत देश में इस समय जो समाज–सुधार की लहर उठी है उसके मुख्य अंग तीन हैं—स्त्रियों की अवस्था और अधिकारों में परिवर्तन, जातिभेद-तिरस्कार और अस्पृश्योद्धार। अंग्रेजी भाषा और संस्कृति के प्रसार के साथ भारतीय जीवन में एक बड़ी विषमता उत्पन्न हो गई है। अंग्रेजी पढे लिखे और वेपढों का बोलचाल, वेषभूषा, रहनसहन व विचारों में बड़ा अन्तर पड़ गया है। यह अन्तर समाज में ही नही, एक घरके भीतरभी घुसा हुआ दृष्टिगोचर होता है। एकही पतिपत्नी के जीवन और विचारों में विषमता उत्पन्न हो जाने के कारण उन्हे सच्चा दाम्पत्य–सुख प्राप्त नही हो सकता। वे एक दूसरे के भावों में प्रवेश करने और परस्पर सहानुभूति रखनेमें अशक्त रहते हैं। जिन उच्च आध्यात्मिक, राजनैतिक व सामाजिक बातोंसे पतिका हृदय ओतप्रोत है उनतक पत्नो की पहुंच नही, तथा जिन घरेलू बातों में पत्नी की अभिरुचि है उनमें पतिको कुछ सार नहीं दिखता। ऐसी अवस्था न तो दम्पती के लिये और न भावी सन्तान के लिये श्रेयस्कर कही जा सकती है। तब फिर यातो पतियों को इस शिक्षा से रोकने का प्रयत्न करना चाहिये या पत्नियों को भी उस शिक्षाकी अधिकारिणी बनाना चाहिये। यह स्पष्ट ही है कि पुरुषोंमें शिक्षा के बढते वेग को रोकना न तो

साध्य है और न वांछनीय है। अतएव यह आवश्यक ठहरता है कि लड़कियों को भी उच्च शिक्षा देना चाहिये। वस्तुतः आज हिन्दू समाज में स्त्री-शिक्षा धीरे धीरे खूब बढ रही है और कालेजों में पढने वाली लड़कियों की संख्या दिनों दिन वढती जा रही है। इस शिक्षा का यह आवश्यक अंग है कि परदा की प्रथा उठ जाय। महाराष्ट्र देश में तो वैसी परदा की प्रथा पहले से भी नहीं है जैसी उत्तर हिंदुस्थान में है। पर उत्तर में भी अब वह प्रथा उठ रही है। यह बात सच है कि पुरुषों का प्रधान क्षेत्र समाज में और स्त्रियों का गृह में है। पर जिस प्रकार समाज में कार्य करने पर भी गृह कार्य से सर्वथा उदासीनता पुरुष में क्षम्य नही गिनी जा सकती, उसी प्रकार गृह कार्य में अधिकतः रहनेवाली स्त्री को वाह्य सृष्टि से विल-कुल अनभिज्ञ रखना अच्छा नही कहा जा सकता। इस जमाने में स्त्रियों को शिक्षित व स्वावलम्बी बनाने की आवश्यकता है। स्वास्थ्य के नियमों का पालन, वालकों की शिक्षा तथा गृह-व्यवस्था जिस प्रकार पढी लिखी स्त्रियां कर सकती हैं वैसी अपढ नही। अतएव इस ओर प्रगतिशील होने की जैन समाज में आवश्यकता है।

वर्णाश्रम धर्म एक प्रकार से हिन्दू धर्म का आवश्यक अंग रहा है। पर उसमें आज भारी विप्लव उपस्थित हुआ है और जो विचारशील अनुभवी विद्वान् हैं वे समझ गये हैं कि इस जन्म से प्राप्त सामाजिक अधिकारों या अनधिकारों की परम्परा अब अधिक नही चल सकती और न उसे चलाना वांछनीय है। जैन धर्म में तो इस जाति-पांति भेद को

कोई स्थान ही नहीं है। पर समाज के दुर्भाग्य से यह भेद-विष जैनियों में इस प्रकारसे फैल गया है कि जिसके कारण समाज की सामूहिक शक्ति बिल्कुल ही नष्ट हो गयी है। एक दस बारह लाख की छोटीसी समाज में पहले तो तीन सम्प्रदाय, फिर उनमें भी चौरासी चौरासी जातियां, और फिर उनमें भी छोटे मोटे अनेक फुटान। जातियाँ भी ऐसी कि जिनमें सहभोज नहीं, परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं। इस परिस्थिति के रहते हुए हम आशा करते हैं कि जैनी अपने को एक समझें, वे एक दूसरे के सुख-दुखमें अपना सुख दुख समझें और परस्पर सहायता करें और सहानुभूति रक्खें। मेरी समझ में यह आशा करना विचार-हीनता का द्योतक है, मानवीय प्रकृति के अज्ञान का चिन्ह है। जिस व्यक्ति या समुदाय के साथ बैठकर खाना आप अनुचित और पाप समझें उससे हार्दिक सहयोग और सहानुभूति की आप कितनी आशा कर सकते हैं? बालुका के रूखे कणोंमें कहीं परस्पर आकर्षण हुआ है? यही कारण है कि समाजको ठोस बनाने के जितने प्रयत्न किये गये हैं व किये जा रहे हैं वे निश्चयतः असफल ही होंगे। यदि हम जैन समाज को ठोस, एकदल और एकदिल बनाना चाहते हैं तो हमें सबसे पूर्व इन जाति-भेदों को भुलानेका प्रयत्न करना चाहिये और समस्त समाज में रोटी-बेटी व्यवहार प्रारम्भ करना चाहिये।

हिंदुओं में अस्पृश्यों का प्रश्न बड़ा जटिल हो उठा है और अब ऐसी अवस्था उपस्थित हुई है जब या तो हिन्दू समाज प्रबल और सुसंगठित बन जाय या सदा के लिये जर्जरित और

निर्बल हो जाय। अस्पृश्यों को अब अपनी अस्पृश्यता असह्य हो उठी है और वे किसी धर्म-विशेष से अधिक स्वाभिमान और आत्मगौरव को समझने लगे हैं। जैनियों के अन्दर भी कितनेही अस्पृश्य वर्तमान हैं। ऐसी कितनी ही जैन जातियां हैं जो समाज में हीनता और तिरस्कार की दृष्टिसे देखी जाती हैं, तथा धार्मिक अधिकारों, जैसे, पूजन-दर्शन आदि में भी उन पर नियंत्रण लगाया जाता है। यह अवस्था अपमानित व्यक्ति के लिये पहले बुरी लगती है और फिर धीरे धीरे असह्य होजाती है। मन का खेद तिरस्कार तथा घृणा में परिणत हो जाता है और फिर क्रोध व विद्वेष में। उस अवस्था में व्यक्ति जो न कर बैठे थोड़ा है। जैन समाज के अन्दर ऐसी अवस्था होते हुए हमारे कितने ही धर्मात्मा अजैनों को जैन बनाने की स्कीम पेश करते हैं और गम्भीरता से प्रयत्न भी करने लग जाते है। जब-तक जैन समाज जाति-पांति भेद के दलदल से ऊपर नही उठ सकता तबतक कौन स्वाभिमानी जनसमुदाय ऐसा होगा जो इस संकीर्णता के पोषक समाज में घुसकर अपनी बेइज्जती करावेगा ?

हमारे सन्मुख इस समय एक बड़ी गम्भीरता का प्रश्न उपस्थित है। बम्बई प्रान्त में जो हिन्दू धार्मिक संस्थाओं के सम्बन्ध का बिल पास हुआ है उस सम्बन्ध में जैनियों से पूछा जा रहा है कि वे हिन्दू हैं या नही। जैन समाज सुसंगठित न होने के कारण इसके उत्तर दोनो प्रकार के दिये जा रहे हैं। किन्तु मेरा ख्याल है कि यह क्षणिक उत्तेजना और स्फुट मत-प्रदान का विषय नही है। जैन समाज को इसका उत्तर विचार

के साथ एक राय से देना चाहिये था। पर समाज संगठितही नही है। इस सम्बन्ध में हमें यह ध्यान में रखना चाहिये कि जैनी तमाम देशभर में विखरे हुए हैं, और उनका हिन्दू समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मैं नही समझता कि किसी भी सामाजिक बात में हिंदुओं और जैनियों में अनैक्य हो। यही नही किन्तु जैनियों में अनेक जातियाँ जैसे अग्रवाल, श्रीमाल आदि इस प्रकार की भी हैं जिनमें हिंदू वैष्णवों के साथ विवाह सम्बंध बहुत काल से होते आ रहे हैं। अतएव यह तो निर्विवाद है कि सामाजिक दृष्टिसे जैनी और हिंदु प्रायः एक हैं। अब रही धर्म की बात। यहांभी यदि जैनी अपने स्याद्वाद नयसे काम लें तो उन्हें हिन्दूधर्म से अपने को सर्वथा पृथक् करने की आवश्यकता नही है। इसमें उनका कल्याण भी नही है। आज आवश्यकता भेदों को मिटाकर, या कम से कम अप्रधान स्थान देकर, एकत्व के ऊपर जोर देने की है। मैं समझता हूँ जैनी अपने जैनत्व को भूल कर ही धार्मिक विभेद की आग भड़काने में अग्रसर हो सकता है। जैनत्व का तो सर्व-धर्म-समभाव ही लक्ष्य होना चाहिये। पर यथार्थतः जैनी हिंदू हैं या नही इसका ठीक उत्तर स्वयं हिंदू ही दे सकते हैं। वे ही स्वयं इस बातका निर्णय करें कि " न गच्छेज्जैन-मंदिरम् " की भावना उनके मन में अभी भी है या चली गई, तथा वे " प्रामाण्य-बुद्धि वेदेषु " को हिंदू की परिभाषा में रखते हैं या नही ? इस सम्बन्ध में मैं अपने हिंदू भाइयों का ध्यान कुछ आवश्यक बातों की ओर आकर्षित करता हूँ। हिंदू राज्य जयपुर में जैनियों के लिये सरकारी संस्कृत पाठशाला में भरती नही किया जा सकता। ग्वालियर रियासत

में अनेक जगह जैनियों के रथोत्सवादि नहीं निकलने दिये जाते। इन कार्यों में हिंदू-जनता का विरोध है। अभी कुछ वर्ष पूर्व ग्वालियर स्टेट के कोलारस में जैनियोंपर बहुत अत्याचार हुआ था। हाल ही में उसी रियासत के महगांव नामक स्थान-पर जैनियों के एक मन्दिर का भारी विध्वंस किया गया है, जिससे सारी जैन समाज में क्षोभ सा फैल रहा है। यद्यपि इन बातों को एक उदार-हृदय व्यक्ति को स्थानीय घटनायें ही सम-झना चाहिये और उनका दोष सारे हिन्दू समाज के सिर नहीं मढा जा सकता, किन्तु हमारे हिन्दू भाइयों का क्या यह कर्तव्य नहीं है कि वे यदि जैनियोंको अपना समझते हैं तो इन घटना-ओंमें जैनियोंसे संवेदना प्रकट करें, न्याय करावें तथा आगे ऐसी घटनाओं की पुनरावृत्ति को असंभव बनाने के लिये उचित वातावरण निर्माण करें। जैनधर्म हिन्दू धर्मकी शाखा है या हिन्दू-धर्म जैन-धर्मका शाखा है, यह विषय इतिहासका है, प्रस्तावों द्वारा तय करनेका नहीं है। जिन्हे भारतवर्ष के धर्मों के इतिहास का ज्ञान है वे समझ सकते हैं कि हिन्दू, बौद्ध और जैन, तीनों ही धर्म, एकही प्राचीन आर्य धर्मकी शाखायें हैं। मैं समझता हूँ हिन्दू सभा जैसी संस्थाको इस ओर ध्यान देकर अपनी ही नीतिसे जैनियोंको यह विश्वास करा देना चाहिये कि वे उन्हे अपना समझते हैं या नहीं। सच्ची सहानुभूति और सहयोग के लिये बढाये हुए हाथ की जैनी कभी अवहेलना नहीं कर सकते।



समाज-संगठन

हमें इस बातका गर्व है कि हम एक बड़ी उच्च सभ्यता, शिष्टता और संस्कृतिके उत्तराधिकारी हैं। जैनधर्म भारतवर्षका एक प्राचीनतम धर्म है। इसने इस देशकी धार्मिक भावनाओंमें, अपने अहिंसा-सिद्धान्तद्वारा, एक स्थायी परिवर्तन किया है। यहाँके विज्ञान और कला-कौशलपर उसने अमर छाप लगा दी है। इसका साहित्य विपुल है, भाषा और विषय दोनों दृष्टियोंसे अद्वितीय महत्व रखता है, जिसके विना देशका इतिहास ही अधूरा रह जाता है। इसकी धार्मिक मान्यताओं और दार्शनिक सिद्धान्तोंमें व्यक्ति और समाजके सुख और शान्तिकी अनुपम कुंजियाँ छुपी हुई हैं।

समाजकी दशा

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस उत्कृष्ट संस्कृतिको पाकर हमने क्या किया? हमारी उक्त संस्कृतिका आज विद्वत्-संसारमें क्या प्रभाव है? इस प्रश्नके उत्तरके लिए जब हम अपनी वर्त्तमान अवस्थाका निरीक्षण करते हैं तो हम क्या देखते हैं? विश्व-भरका कल्याण करनेकी योग्यता रखनेवाला यह धर्म आज इस पृथ्वी-भरके छह विशाल महाद्वीपोंमेंसे केवल एकके एक कोनेमें, अर्थात् भारतवर्ष-मात्रमें, प्रचलित पाया जाता है। सो भी किस अवस्थामें? इस देशकी लगभग पैंतीस

करोड़ जैन-संख्या में इस धर्मके अनुयायियोंकी संख्या केवल साढ़े बारह लाख है, अर्थात् एक हजारमें तीन या चार। इसे हम आटेमें नमकके बराबर कह सकते हैं। इस सुप्रचलित उपमा से हमें तत्क्षण यह आशा होती है कि संख्या बड़ी नहीं तो न सही, पर, जिस प्रकार थोड़ासा भी नमक बहुतसे आटेको अपने रसपर ले आता है और लज्जतदार बना देता है, तथा उसके बिना आटेका बना पकवान फीका रहता है, उसी प्रकारका गुण यदि हमारी अल्पसंख्यक जैनसमाजमें हो तो भी हमें बहुत कुछ संतोष होना चाहिए। पर जब हम विचार कर देखते हैं तो हमें हमारे भीतर यह कूबत भी दिखाई नहीं देती। सारे देशपर तो यह समाज अपने अस्तित्वका सिक्का जमावेगा ही क्या, स्वयं यह समाज ही एक-रस नहीं है। इस छोटेसे समाजके भीतर भी तीन पृथक् पृथक् सम्प्रदाय हैं जिनमें शताब्दियोंसे धार्मिक और सामाजिक सहयोगका सर्वथा अभाव है। समयके साथ यदि कुछ उन्नति हुई है तो इस ओर कि उनमें तीर्थक्षेत्रोंके विषयको लेकर कलह और विद्वेषका बेहद विष फैल गया है। पर यहीं तक दुर्दशाका अन्त नहीं है। इस एक एक सम्प्रदायके भीतर भी एक नहीं, दो नहीं, चार नहीं, चौरासी चौरासी जातियाँ गिनाई जाती हैं जिनमें भी परस्पर कोई सामाजिक रोटी-बेटी-व्यवहार नहीं है। और फिर इस एक एक जातिके भी दो दो तीन तीन टुकड़े हो गये हैं, जैसे दस्सा, बीसा आदि। इस प्रकार यह साढ़े बारह लाखका समाज कोई चार-पाँच सौ टुकड़ोंमें इस बुरी तरह विभाजित है कि उसमें यथार्थतः कोई परस्पर ठोस कार्य करना

निराशाको निमंत्रण देकर बुलाना है। जिन जनसमुदायोंके बीच खान-पानका रिवाज नहीं, बेटी-व्यवहार नहीं, उनके बीच सच्ची सहानुभूति तथा हार्दिक और शक्ति-भर सहायताका भाव भला कैसे उत्पन्न हो सकता है? यह भेद-बुद्धि धीरे धीरे धार्मिक क्षेत्रमें यहाँतक अपना प्रभाव दिखा रही है कि ये जातियाँ प्रायः अपना अपना अलग मन्दिर बना लेती हैं, अपनी अपनी रथयात्रा आदि निकालती हैं, अपनी अपनी सभा-सोसायटियाँ कायम करती हैं तथा कोई कोई तो पत्र--पत्रिकादि भी अपना अलग चलानेका प्रयत्न करती हैं, और, इस प्रकार, अलग अलग 'अपनी अपनी ढपली, अपना अपना राग' अलापती रहती हैं।

फूटका परिणाम

इस दुरवस्थामें कोई हस्तक्षेप न करते हुए समाजके अग्रणी विद्वान् लोगोंको जैन धर्मके विश्वव्यापी सिद्धान्तोंका पाठ सुनाते हैं और जैनधर्मकी मनुष्यमात्रमें प्रेम और ऐक्य स्थापित करनेकी योग्यताके गीत गाते हैं। यह भेद–भाव अनुभव करनेकी और इसके विपरीत एकताके व्याख्यान सुननेकी हमें आदत भी ऐसी पड़ गई है कि उनमें हमें किसी विषमताका बोध ही नहीं होता। पर हृदय तो प्राकृतिक नियमों और मनोविज्ञानके तत्वोंसे परे नहीं जा सकता। हम मिलते–जुलते हैं पर हमारे मिलनेमें एकरसताकी निर्भिन्नता उत्पन्न नहीं होती, परस्पर सहानुभूति प्रकट करते हैं पर उसमें अंतरंगका जोश नहीं होता, सहयोग करते हैं पर उसमें हार्दिक प्रेरणाका भाव जागृत नहीं

होता। भेद-बुद्धि यहाँ तक हमारी प्रकृतिका अंग बन गई है कि 'हम परस्पर एक हैं' इस ज्ञानसे तो हमारा संतोष ही नहीं होता। "आप जैनी हैं?" "हाँ।" अच्छा, कौन जैनी हैं; दिगम्बर, श्वेताम्बर या स्थानकवासी?" "कौन जाति हैं?" "कौन दल हैं?" इत्यादि प्रश्न करकरके जब तक हम इस भिन्नता पर न पहुंच जावें कि तुम अमुक और हम अमुक, तबतक हम शान्त ही नहीं होते। इस भेदके दलदलमें हमारा धर्म और साहित्य बहुत नीचे डूब गया है। उसकी ओर हमारी दृष्टि ही नहीं जाती। हमारे धर्मायतनोंमें हजारों-लाखोंकी सम्पत्ति है पर उसका उपयोग उन्नतिकारी कार्योंमें न होकर ईर्ष्या और प्रतिद्वन्द्वात्मक बातोंमें होता है। समाजमें धर्मके नामपर त्यागकी भावनाकी कमी नहीं है। हजारों, लाखों, शायद करोड़ों, रुपया धर्मके नामपर प्रतिवर्ष खर्च होता है, पर उससे धर्म, साहित्य और समाजकी उन्नति नहीं होती, बल्कि कुछ हास्योत्पादक अवसर ही उपस्थित होते हैं। जैनधर्मकी गुरु-संस्था किसी समय समाजकी संख्या बढ़ानेमें, प्रेम और ऐक्य उत्पन्न करनेमें, धर्मके प्रचारमें और साहित्य के निर्माणमें निस्स्वार्थ भावसे कार्य करनेके लिए कायम की गई थी। वही संस्था आज प्रायः कलहकारी और समाजको छिन्न-भिन्न करनेवाली बातोंमें अपनी और समाजकी शक्तिका अपव्यय करनेवाले ऐसे निरक्षर व्यक्तियोंसे परिपूर्ण हो रही है जो पवित्र जैनधर्मकी हँसी करा रहे हैं।

इस प्रकार समाज छिन्न भिन्न है; उसमें ऐक्य नहीं, प्रेम नहीं, सहयोग नहीं। इसके फल-स्वरूप धर्मका गौरव कायम रखनेवाले बृहत् और ठोस कार्योंका प्रायः अभाव है। प्राचीन

ऐतिहासिक और कलात्मक स्मारकोंके संग्रहकी कोई बड़ी संस्था नहीं, प्राचीन साहित्यके खोज और प्रकाशनकी कोई समुचित व्यवस्था नहीं, नवीन साहित्य-निर्माणका कोई आयोजन नहीं, देश-विदेशमें जैनसिद्धान्तके प्रचारका कोई प्रयत्न नहीं, धार्मिक शिक्षाका कोई विद्यापीठ नहीं, समाजकी आर्थिक अवस्था सुधारनेका कोई उद्योग नहीं, राजनीतिक क्षेत्रमें कोई स्थान नहीं। समाज कुरूढ़ियों और कुरीतियोंसे भरा पड़ा है, उनको हटानेकी कोई प्रभावशाली योजना नहीं।

जैन आदर्शसे पतन

इन सब कमियों और त्रुटियोंकी ओर समाजका ध्यान मैं ही प्रथम बार खींच रहा होऊं सो बात नहीं है। वर्ष-प्रतिवर्ष परिषद्के रंग मंचपरसे, अन्य कितनी ही सभा-सोसायटियोंके रंग मंचोंपरसे, तथा पत्रोंद्वारा, विचारक लोग इन दुर्बलताओंका विवेचन करते आये हैं, पर संतोषजनक परिवर्तन अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। कारण क्या है? मेरी समझमें आता है कि अभी तक इसके मूलपर हमारा पूर्ण ध्यान नहीं गया है। हमारी अवनतिका कारण स्पष्टतः हमारी फूट है और इस फूटका कारण है हमारे धर्मके सच्चे आदर्शका अज्ञान। हम अपने आदर्शसे च्युत होकर दूसरोंके प्रभावमें आ गये हैं जिससे हमारी दुर्गति हो रही है। हम आज यह जानते ही नहीं, और जानते हैं तो मानते नहीं, कि जैनधर्ममें जाति-भेद जैसी संस्थाके लिए कोई स्थान नहीं है और हमने जो इस संस्थाको अपनाया है वह महावीर स्वामीके उपदेशोंके अनुकूल नहीं किन्तु उनसे

विपरीत, उनके सर्वथा प्रतिकूल। यदि समाजकी रचना इस जाति-भेदके आधारपर स्वीकार कर ली जाय तो जैनधर्मकी उदारता कहाँ है ? उसकी विशेषता कौन-सी रह जाती है ? किस आवश्यकताकी पूर्ति इस देशमें एक अलग तूती बजानेसे होती है ? नहीं, नहीं, हम भूल गये हैं। हम गलती कर रहे हैं। हम मार्ग-भ्रष्ट हो गये हैं। बन्धुओ, आज कमसे कम सोलह वर्षोंसे मैं जैन साहित्य और इतिहासका अध्ययन कर रहा हूँ। जैनधर्मके सिद्धान्तोंमें, जैनसमाजके प्राचीन इतिहासमें, प्राचीन जैन-साहित्यमें, जाति-भेद जैसी संकुचित नीतिके लिए कोई प्रमाण नहीं है। मैं इस मतसे विरोध रखनेवाले विद्वानोंसे प्रेरणा करता हूँ, उन्हे चैलेंज देता हूँ, कि यदि वे महावीर स्वामीके समयमें तो क्या, उनके एक हजार वर्ष पश्चात् तकके साहित्यमें भी वर्तमान जातियोंका उल्लेख भी ढूँढकर बतला दें तो मैं उन्हें साष्टांग प्रणाम करनेको तैयार हूँ। वीर भगवान्‌के अनुयायियोंका तो एक ही संघ था, जिसके अंग थे मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। अन्य प्रकारका कोई जन्म-भेद सामाजिक या धार्मिक कार्योंके लिए, जैन संघके भीतर स्वीकार नहीं किया गया। हिन्दू धर्मका ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नामक वर्ण-भेद अवश्य बहुत प्राचीन है; पर, जैनधर्मने प्रारम्भसेही इस भेदके विरुद्ध युद्ध किया है, इसे मिटा डालनेका प्रयत्न किया है। उसने इस बातपर जोर दिया है कि यदि इस भेदमें कोई तथ्य हो तो वह गुणकर्मके आधारपर ही माना जा सकता है, जन्म-मात्रके आधारसे नहीं। इसी युद्धके फलस्वरूप जैन-समाजसे यह वर्ण-व्यवस्था सर्वथा

उठ गई। बतलाइए, जैन समाजके भीतर कौन ब्राह्मण है और कौन क्षत्रिय? जब समाजभेदकी इस बद्धमूल वर्ण-व्यवस्थाको ही जैनियोंने उड़ा दिया तब अन्य क्षुद्र भेदोंके लिए स्थान और आधार ही क्या रहा? इसी ऐक्यकी भावनापर तो जैनधर्मकी एक समय वह उन्नति हुई थी कि सारा देश जैनसमाजकी सजीवता और व्यापकतासे हिल उठा था। शोककी बात है कि वह सजीवता धीरे धीरे नष्ट हो गई है। जिन बुराइयोंको दूर करके जैनियोंने अपना आस्तित्व कायम किया था वे ही बुराइयाँ उनमें दूसरे दरवाजेसे फिर घुस आई हैं, जिनके कारण उनका अधःपतन अभीतक जारी है। भारतवर्षमें आर्यलोगोंमें जब तक एकत्व रहा तब तक उनका खूब बल बढा। उनकी बेहद उन्नति हुई। जन्मगत वर्ण-विभागके विषने क्रमशः उनकी शक्ति तोड़ दी और वे फिर विदेशी आक्रमणोंसे अपनी रक्षा नहीं कर सके। जैनियोंमें जबतक एक संघकी भावना रही तबतक उन्नति हुई, उनका साहित्य बढ़ा, उनकी संस्कृतिने जोर पकड़ा। ज्यों ही संघ फूटा और जाति-भेदने अपना घर किया त्यों ही उनका गौरव विलुप्त होने लगा। संसार-भरमें देख लीजिए। वे ही संस्कृतियाँ, वे ही धर्म, फूले-फले हैं और कायम हैं जिनके पीछे अनुयायियोंका ऐक्य रहा है। जहाँ यह नहीं, वहाँ वह नहीं। ईसाई और मुसलमानी धर्मोंके संसारव्यापी बननेमें सामाजिक ऐक्य ही एक मुख्य कारण रहा है। हिन्दूधर्म इतना प्रबल होते हुए भी इस वर्ण-भेदके पचड़ेके कारण देशके बाहर नहीं फैल सका और देशके भीतर भी अपने समाजको नहीं सम्हाल सका। बौद्धधर्म सामाजिक ऐक्यका पक्षपाती था,

वह संसार-भरमें फैला। हम अपनी कमजोरीपर बहुधा खिसियाते हैं। दूसरी छोटी कौमोंका, जैसे सिक्ख और पारसियोंका उदाहरण लेकर कहते हैं कि हममें उतना भी बल नहीं है। पर हम विचार नहीं करते कि उनके बलका जो मूल है उसीका हममें अभाव है। सिक्ख और पारसी कौमें अपने अपने भीतर एक हैं। हममें वह बात नहीं है। यथार्थतः मुझे यही नहीं मालूम पड़ता कि हम अपनेको एक कौम कहते किस बूतेपर हैं जब हमारे बीच परस्पर सामाजिक व्यवहार ही कोई नहीं है? कौम, कम्यूनिटी, समाज, ये सब शब्द समता, एकरूपता, सामाजिक ऐक्यके ही बोधक हैं। जब तक जैनियोंके भीतर इन गुणोंका अभाव है तबतक उन्हें एक कौम, एक समाज या एक कम्यूनिटी कहना शब्दका दुरुपयोग करना और अपनी हंसी कराना है।

दस्सा और लहुरीसेन

आप शायद कहेंगे कि धर्मकी मान्यता और भावनामें हम कोई भेद नहीं रखते इसलिए हम सब एक समाज हैं। पर जब मान्यता और भावना एक है तब फिर सामाजिक अनैक्यका आधार ही क्या रह गया? किन्तु तथ्य तो यह है कि हम अपने धर्मके आयतनोंको भी इस भेद-बुद्धिसे अछूते नहीं रख सके। भगवान् महावीरके समवसरणमें मनुष्यमात्र एक कोठेमें बैठते थे पर भेदरूपी पिशाचने हमारी कहाँतक दुर्दशा की है, हमारे अधःपतनकी सीमा कितने नीचे तक पहुँच गई है और हमारे उदार धर्म और सिद्धान्तोंका कहाँतक घात किया है, इसका पता हमें

तब और विशेष रूपसे चलता है जब हम इस समाज कहलानेवाले समूहके उस अंगपर दृष्टिपात करते हैं जिसे आप अपने अभिमान, अपनी निर्लज्जता और अशिष्टताके कारण दस्सा, लहुरीसेन, लौहड़ साजन, विनैकया आदि नामोंसे पुकारते हैं और जो कुछ तो अपनी सज्जनता और कुछ अज्ञानके कारण अवतक इस अपमानको सहन करते आये हैं। उनके सामाजिक हक्कोंपर किस तरह कुठाराघात किया गया है, इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं, प्रत्येक जैनी इस बातको खूब जानता है। उनके धार्मिक हकों तकका अपहरण करके तो मानो आपने इस बातकी स्पष्ट घोषणा ही कर दी है कि जैनधर्म अब वह पतितपावन धर्म नहीं रहा जो पहले कभी था। अब हमारे तीर्थक्षेत्रों, हमारे मंदिरोंमें, वह उद्धारक शक्ति तो रही ही नहीं, बल्कि एक ऐसी कमजोरी आगई है जिससे कि शायद अपवित्र को पवित्र बनानेकी अपेक्षा वह खुद अपवित्र हो जाय। धन्य रे उदार जैनधर्म, धन्य है तेरी पतितपावन–योग्यता। हम अजैनों को जैनी बनानेका हौसला रखते हैं; पर, जो परम्परागत जैनी हैं उन्हींको पूर्णतः अपना नहीं सकते, बल्कि नीचे ढकेलते हैं! कितने ही जैनियोंको कहीं कहीं जैनमन्दिरोंमें प्रवेश करने तकका अधिकार नहीं हैं। रूढ़िवादी इस बन्दीको कायम रखना चाहते हैं। कुछ सुधारक कहलानेवाले लोग बड़ी उदारतापूर्वक उन्हें मन्दिरोंमें प्रवेश करनेका अधिकार देना चाहते हैं पर पूजा करनेका नहीं! कुछ लोग दर्शन करने और पुंज चढ़ाने देनेके पक्षमें हैं, पर प्रक्षाल करनेकी अनुमतिमें वे भी हिचकते हैं। शायद उन्हें भय है कि उनके हस्त–स्पर्शसे कहीं मूर्ति ही गलकर पानी

न हो जाय ! इतनेपर भी जैनी दावा करते हैं कि हमारे बीचमें कोई ' हरिजन ' नहीं, ' हरिजन–मन्दिर–प्रवेश ' बिल हमें लागू नहीं होना चाहिए !

अजैनोंको जैन बनाना

परिषद्के सन्मुख यह प्रश्न अनेक बार आ चुका है पर रूढिवादी दलके विरोधके कारण अभी तक परिषद् इस ओर प्रायः कुछ सफलता प्राप्त नहीं पा सकी है। सच कहाजाय तो प्रस्ताव पास करनेके अतिरिक्त अन्य कोई प्रयत्न भी इस दिशामें नहीं किया गया। पर अजैनोंको जैनी बनाने और संसार–भरमें जैनधर्मका प्रचार करनेका हम पलपलपर दम भरते हैं। मैं पूछता हूँ कि आप अजैनोंको जैन बनाकर उनका करना क्या चाहते हैं ? शायद वही अपमान, जो आज आप अपने ही बन्धु बान्धवोंका कर रहे हैं ? यदि यही मनोवृत्ति रखना है तो रहने दीजिए बेचारे अजैनोंको जैसे वे हैं वैसे ही। जैन बननेसे कल्याण होना तो अनिश्चित भविष्यपर निर्भर है, पर उनका धार्मिक और सामाजिक अपमान अवश्यंभावी है जो उन्हें पद–पदपर भोगना पड़ेगा। यह केवल आशंकामात्र नहीं है। जो अजैन जैनी बने हैं उनके अनुभवमें भी यही बात आ रही है। कितने ही अजैनोंने मुझसे पूछा है ' यदि मैं जैनधर्म स्वीकार कर लूँ तो आप मुझसे कैसा व्यवहार करेंगे ' ? मेरी उत्कट इच्छा रहती है कि मैं उनसे कह सकूँ कि ' कुटुम्बका एक व्यक्ति समझूंगा '। पर दुर्भाग्यसे कहना पड़ता है ' भैया, सभा सोसायटीमें तो आपका हम पूरा आदर कर सकेंगे, बहुत जोर लगावेंगे तो मन्दिरोंमें भी तीर्थंकर

भगवान्‌के दूरसे दर्शन करा देंगे; पर, अपना सामाजिक व्यवहार तो आपको हमसे जुदा ही रखना पड़ेगा। हम उस क्षेत्रमें आपको फिर भी अपना नहीं समझ सकते, चाहे आप कितना ही जैन आचार-विचार और ज्ञान क्यों न धारण कर लें।'

बन्धुओ, क्या इसी योग्यताके बलपर आप जैनधर्मके अनुयायियोंकी संख्या बढ़ाना चाहते हैं और जैनधर्मको विश्व-व्यापी देखना चाहते हैं? क्या इसी संकीर्णताके आधारपर आप समझते हैं कि आपके तीर्थंकर महावीरका देश-भरमें आदर और सम्मान होगा? क्या इसी अनुदारताके लिए आपकी संस्कृति और सिद्धान्तोंका संसारमें प्रचार बढ़ेगा? निश्चित समझिये, ऐसा न हुआ है और न हो सकता है।

कुछ लोग इस बातके पक्षपाती हैं कि जिन समूहोंमें विधवा-विवाहका प्रचार नहीं है उनमें तो परस्पर सामाजिक व्यवहार जारी किया जाय पर विधवा-विवाहवालोंके साथ नहीं। पर बन्धुओ, इस तरह भी आप जैनधर्मका संदेश जैनेतर संसारको ग्राह्य नहीं बना सकते, क्योंकि भारतवर्षके एक अल्पसंख्यक जन-समुदायको छोड़ शेष पृथ्वी-भरके समस्त देशों और प्रदेशोंमें, जातियों और समुदायोंमें, विधवा-विवाह का प्रचार है। चौंकिए नहीं, मेरा उद्देश्य किसी भी रीति-रिवाजके खंडन-मंडन करनेका नहीं है। मैं तो इस समय समस्त जैन-समाजको उन्नत और बलशाली बनाने तथा जैन-धर्मको विश्वव्यापक सिद्ध करनेके प्रश्नपर विचार कर रहा हूँ। संसार-भरमें विधवा-विवाहका प्रचार है, और, जहाँतक मेरी बुद्धि जा सकती है मुझे इस बातका विश्वास नहीं होता कि

सभ्य संसार इस रीति रिवाजको कभी छोड़ देगा। जो छोड़ भी दें उनके पूर्वज तो उसे करते आये हैं और इस कारण भी वे हमारे समाजको ग्राह्य नहीं हो सकते, क्योंकि, हम तो केवल व्यक्ति–विशेषको उसके ही कृत्योंका नहीं पर उसके दादा, परदादाके कृत्योंका भी जिम्मेदार ठहराते हैं और उनके लिए उसे दण्ड देते है। मैं विधवाओंको पुनर्विवाह करनेके लिए बाध्य करनेको बहुत बुरा समझता हूँ, और उतना ही बुरा समझता हूं उन्हें डण्डे मार मार कर वैधव्य भुगतवाना और दुराचार की ओर ढकेलना। मैं अनेकान्तका पक्षपाती हूँ। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी विषमताको स्वीकार करता हूँ। कितने ही रीतिरिवाज समय–समयपर प्रचलित हुए और विलुप्त हो गये और उनके स्थानपर नये चल पड़े। उनसे समाजकी मौलिक व्यवस्थामें कोई भेद नहीं पड़ा। एक समय सती–प्रथा प्रचलित थी। पतिव्रता नारीका धर्म समझा जाता था कि वह अपनेको अपने पतिकी चितापर भस्म कर दे। पर आज वह रिवाज टूट गया है; बल्कि ऐसा करना जुर्म समझा जाता है। पतिके साथ भस्म न होने-वाली नारियोंको अब कोई पतिद्रोहिणी असती नहीं कहता। देश छोड़कर समुद्र–पार जाना भी एक समय पाप समझा जाता था। उसके लिए हमारे और आपके देखते देखते कितने ही लोगोंसे प्रायश्चित्त कराया गया है। पर आज वह बात भी नहीं रही; हम आज उलटे अपने नवयुवकोंको विद्याध्ययनके लिए तथा विद्वानोंको धर्मप्रचारके लिए, विदेश जानेको प्रोत्साहित करते हैं। विधवा–विवाहके सम्बन्धमें भी यही उदार मनोवृत्ति रखना चाहिए। देश, काल और पात्रकी योग्यताका ख्याल नहीं

छोड़ना चाहिए। और, कमसे कम, इस विषयको लेकर टूटी हुई समाजकी और भी कमर नहीं तोड़ना चाहिए।

सच्चा ऐक्य।

तात्पर्य यह कि धर्म और संस्कृतिकी रक्षाके लिए उसके अनुयायियोंकी उन्नति करना और इस उन्नतिके लिए समाज-भरमें सच्चा ऐक्य स्थापित करना आवश्यक है। इसके लिए हमें भेद-बुद्धि-जनक जाति-पाँतिकी भावनाको तिलांजलि दे देना चाहिए और जैनसमाज-भरमें रोटी-बेटी-व्यवहारमें कहीं कोई रुकावट नहीं होना चाहिए। यदि हम अपने धर्मका संसार में आदर चाहते हैं, यदि हम अपने समाजको उन्नत और प्रभावशाली देखना चाहते हैं, तो हमें अपने समाजका संगठन महावीर भगवान्के समवसरणके आदर्शपर ही करना चाहिए, जहाँ मनुष्यमात्रमें भेद नहीं रक्खा जाता। हमारे समाज और धर्मायतनोंका तो यह उद्देश्य होना चाहिए कि—

खुला हुआ है द्वार यहाँपर जो चाहे सो आवे,
और जहाँ जिसका जी चाहे अपना वास बनावे।
है यह जैनधर्मकी महिमा नहीं रुकावट इसमें,
सब जीवोंमें परमातम है, कहाँ भेद है किसमें ?

उन्नतिकी अनेक दिशायें हैं और समाजकी अगणित आवश्यकतायें हैं। जिस मात्रामें हमारे संगठनका बल बढ़ेगा उतनी ही मात्रामें समाजके भीतर उन्नति और सुधार हो सकेंगे और यह संगठन या सुधार तभी आदर्श-सीमापर पहुँचेगा जब हम अपने हृदयमें यह विश्वास कर सकें और संसारको बतला सकें

कि जैनसमाज एक है और किसी जाति–पाँतिके भेदके कारण एक जैनी दूसरेसे जुदा नहीं है। एकका दुःख सबका दुःख है और एकका सुख सबका सुख। इसी एकहृदयताके बलपर हम अपने तीर्थंकरोंका और अपने सिद्धान्तोंका आदर और सन्मान दुनियामें करा सकेंगे। जबतक हमारे सिद्धान्तों और कृत्योंमें विषमता रहेगी तब तक हम दूसरोंपर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकेंगे।

आजकल सभ्य संसार तीव्र वेगसे उन्नति कर रहा है। जो परिवर्तन पहले शताब्दियोंमें नहीं हो सके वे आजकल घंटोंमें हो रहे हैं। देश और समाजका कायापलट आज पल–पलपर हो रहा है। ऐसे समयपर यदि हम अपनी घोर निद्राहीमें पड़े रहे और सैकड़ों हजारों वर्ष पूर्वकी सर्वथा भिन्न अवस्थामें उत्पन्न हुई रूढियोंके गुलाम बने रहे तो हमारा पतन अवश्यंभावी है। और इस पतनकी अंतिम सीमा क्या होगी, कुछ कहा नहीं जा सकता। बड़ी बड़ी कौमें समयके साथ अपने स्वरूपको न बदल सकनेके कारण इस पृथ्वीपटलसे लुप्त हो चुकी हैं। हमारी तो संख्या ही कितनी है? इस समय सम्हलनेकी आवश्यकता है। मौका भी बड़ा शानदार है। संसारमें एक ओर उद्दंडता और अहंकरका गर्जन–तर्जन है तथा दूसरी ओर त्राहि त्राहिकी कराहना है। अहिंसा और अनेकांत द्वारा संसारका कुछ लाभ करनेका यही सुवर्णावसर है।

आशा

मैने अधिकांश अप्रिय बातें ही कहीं हैं। अपने दोष सुन-

नेमें बहुधा क्रोध हो आता है। चिकनी-चुपड़ी बातें सुनाकर आपको प्रसन्न भी कर सकता था, पर उससे मेरा और आपका कोई कल्याण नहीं होता। मैने अप्रिय सत्य आपके सन्मुख रखनेका साहस किया है और वह इसी कारण कि मेरे हृदयमें समाजकी वर्तमान दीन और दुर्बल टूटी फूटी अवस्थाका दुःख है। मैं समाजको सबल और प्रभावशाली देखना चाहता हूँ और यह कार्य इन आन्तरिक दुर्गुणोंको दूर किये बिना नहीं हो सकता। मेरी यह आशा है, यही प्रार्थना है कि उक्त बातों-पर आप ठण्डे हृदयसे विचार करके अपनी कमजोरियोंके हटा-नेके लिए कटिबद्ध हो जायँ। वीर भगवान् हमें बुद्धि दें कि हम अपनी सच्ची आवश्यकताओंको समझ सकें, हमें शक्ति दें कि हम उनकी पूर्ति कर सकें

फिर बने हमारा हृदय वीरका अनुयायी सच्चा
हो विश्व-प्रेममें रँगा हमारा एक एक बच्चा।



धर्म प्रभावना के समयोचित उपाय

यह विज्ञान का युग है। इस युग में कोई भी बात केवल परम्परागत होने से या बहुत लोगों द्वारा श्रद्धा की दृष्टि से देखे जाने के कारण सत्य या उच्च नही मानी जा सकती। जब-तक कोई बात प्रत्यक्ष प्रमाण की कसौटी पर कठोर परीक्षा द्वारा ठीक नही उतरती, तबतक विद्वत्समाज में उसके सर्व-मान्य होने की कोई आशा नही करना चाहिये। जैन धर्म ने देशमें जिस संस्कृतिका निर्माण किया है उसपर एक ओर उसके अनुयायिओं को गर्व और अभिमान है तो दूसरी ओर अनेक विद्वानों को उसकी उत्कृष्टता में भारी सन्देह है। नही, उन्हे उसमें देशके अधःपतन का बीज छुपा हुआ दिखाई देता है। जैनियों का कर्तव्य है कि वे अपनी निर्माण की हुई संस्कृति के उत्कृष्ट स्मारकों को परीक्षक संसार के सन्मुख निर्भीकता के साथ उपस्थित करें।

अभीतक हमने केवल अपने बड़प्पन के गीत गाना सीख पाया है पर उस बड़प्पन को सिद्ध करने की प्रणाली को समझी तक नही है। हम उसे पुरानी, पोची दलीलों से सिद्ध करनेकी विडम्बना द्वारा उसे वैज्ञानिक समाज में केवल हास्यास्पद बनानेमें सफल होते हैं। जैनधर्म ने स्वयं काल और भाव के अनुकूल साधनों के अवलम्बन की शिक्षा दी है, पर हम परीक्षावादी व्यक्तियों के सन्मुख अपनी श्रद्धा और अन्धविश्वासों की पुकार मचाते हैं, इस बीसवीं शताब्दि में

वारहवीं शताब्दि के शस्त्रों का अवलम्बन करते हैं। अपनी सभ्यता का अभिमान करना एक सद्गुण है, किन्तु अपनी दुर्बलताओंको स्वीकार करना एक वडी भारी महत्ता है। हमें अपने सद्गुण और महत्ता दोनों का परिचय देना चाहिये। इन में से एक के विना दूसरे का कोई गौरव नहीं है, कोई मूल्य नहीं है। जैन संस्कृति को संसारके विद्वत्समाज की दृष्टि में गौरव पूर्ण बनानेके लिये मुझे निम्न लिखित संघटनात्मक उपायों की विशेष रूपसे आवश्यकता प्रतीत हो रही है।

जैनियों का प्राचीन साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है, किन्तु बहुसंख्यक ग्रंथ अभी अज्ञातरूप से प्राचीन भंडारों में पड़े हुए हैं। इन सब ग्रंथों की विवरणात्मक सूचियां तैयार कराना चाहिये। जिस प्रकार कुछ प्रान्तों में पहले सरकार की ओर से (Search for Sanskrit Manuscripts) संस्कृत ग्रंथों की खोजका कार्य हुआ था, व जिस प्रकार नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, की ओर से हिन्दी प्राचीन ग्रंथोंकी खोज का कार्य कई वर्षोंसे चालू है, उसी प्रकार जैन ग्रंथों की खोज व विवरण-प्रकाशनका कार्य सुव्यवस्थित और योग्यतापूर्वक किये जाने की योजना होना चाहिये।

जिस प्रकार ब्राह्मणधर्म की खास भाषा संस्कृत और बौद्धों की पाली है, उसी प्रकार जैनियोंका प्राकृत भाषाओं पर विशेष अधिकार रहा है। जैन तीर्थंकरों और गणधरों की ग्रंथ-रचना इन्हीं भाषाओं में हुई थी। प्राचीन आचार्यों ने भी अपनी धार्मिक रचनायें इन्हीं भाषाओं में की हैं। इन्हीं भाषाओंद्वारा

जैनधर्म का प्रचार किया गया था, क्योंकि ये ही भाषायें समय समयपर जन–साधारण के बोलचाल में प्रयुक्त होती थीं, और सभी, बाल, स्त्री व मंदबुद्धि इन्हें समझते थे। प्राचीनतम, अधिकांश और उत्कृष्ट जैन साहित्य इन्ही भाषाओं में रचा गया है। ये भाषायें आर्य भाषाओं के विकाश के इतिहास में एक खास स्थान रखती हैं, इसीलिये भाषाशास्त्रियोंको जैनियों के इस साहित्य का अध्ययन करना आवश्यक होता है। किन्तु, दुर्भाग्यतः स्वयं जैन समाज में प्राकृत भाषाओं के ज्ञाताओं की बहुत कमी है इससे इस साहित्यका यथोचित रूपसे संशोधन और प्रकाशन बहुत ही कम हुआ है। इस खास जैन साहित्यकी सम्पत्ति की रक्षा और उपयोग का समाज में कोई प्रबन्ध नही है। अतएव आवश्यकता है कि प्राकृत के ग्रंथ उत्तम संशोधन के साथ प्रकाशित किये जायँ, तथा समाज में प्राकृत के विद्वानों की संख्या बढाई जावे। इस कार्य के लिये समाज की शिक्षा और परीक्षा संस्थाओं में प्राकृत के कोर्स नियत कराने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। अनेक यूनीवर्सिटियों में प्राकृत के कोर्स नियत हैं, किन्तु बहुत ही कम विद्यार्थी क्वाचित् ही इस कोर्स को ग्रहण करते हैं, उनमें भी विशेष संख्या अजैन विद्यार्थियों की ही रहती है। जैन विद्यार्थियों का उस ओर कोई ध्यान ही नहीं है। हमारे विद्यार्थियों को उस ओर उत्तेजित करने के लिये हमें प्रत्येक यूनीवर्सिटी में प्राकृत लेनेवाले विद्यार्थियों के लिये कुछ खास छात्रवृत्तियों का तथा परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने वालों के लिये सुवर्ण व रजत पदक आदि पारितोषकों का प्रबन्ध होना चाहिये।

एक समय था जब पूजा, प्रतिष्ठा व रथ यात्राओं द्वारा अश्रद्धानियों के हृदय में भी धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न हो जाती थी। किन्तु आज के परीक्षा-प्रधान युग में इन साधनोंसे अश्रद्धानियों का हृदय तो नहीं पलटता, उलटा परीक्षक बुद्धि वालों के मन में इससे हास्य उत्पन्न होता है। आज हमें अपने उसी वैभवको एक दूसरेही प्रकार से प्रदर्शित करना चाहिये। जैनियों ने देश की कला कौशल की उन्नति में विशेष भाग लिया है। पर उस विशेषता का न तो स्वयं जैन समाज को पूरा ध्यान है, और न संसारके कला शास्त्र में उसे कोई विशेष स्थान मिल पाया है। इसकी सामग्री एकत्र करनेका कोई समुचित प्रयत्न ही नही किया गया। अतएव एक जैन कला-भवन की स्थापना होना चाहिये जिसमें जैनियों की अति प्राचीन मूर्तियों, शिलालेखों, ताम्रपत्रों व चित्रों का संग्रह किया जाय तथा प्राचीन कारीगरी के उत्तमोत्तम उदाहरण रूप मन्दिरों, स्तम्भों आदि के मिट्टी या पाषाण के आदर्श बनवाकर और चित्र लेकर रखे जायँ।

उक्त भवन से सम्बद्ध एक साहित्य भवन भी स्थापित हो जिसमें प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का संग्रह हो, कुल प्रकाशित ग्रंथ हों तथा जैन धर्म से संम्बन्ध रखने वाली कुछ पत्र-पत्रिकायें मंगाई जावें। प्रतिमाह और प्रतिवर्षका प्रकाशित तथा कोई विशेष महत्व रखने वाला साहित्य प्रदर्शिनी रूप में रखा जावे। जहां कहीं प्रदर्शिनी आदि की आयोजना हो वहां इस जैन कला का प्रदर्शन करनेका प्रयत्न भी किया जाय। परिषद् के वार्षिक अधिवेशन व अन्य बड़े सामाजिक सम्मेलनों पर जैन प्रदर्शिनी का आयोजन भी अवश्य किया जावे।

इस साहित्य और कलाभवन के एकवार दर्शन करने से जैनधर्म से अपरिचित व्यक्ति भी इस संस्कृति के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त कर सकेगा। जो विदेशी विद्वान् आजकल बहु संख्या में यहां की पुरानी संस्कृति तथा आज की परिस्थिति का परिचय प्राप्त करने आते हैं, उन्हें हम अपना बहुत कुछ परिचय केवल इस संस्था का अवलोकन करा कर दे सकेंगे! जो धर्मप्रभावना सैकडों लेखों, दर्जनों पुस्तक–पुस्तिकाओं व पचासों व्याख्यानों से नही हो सकती वह इस एक संस्था के द्वारा सहज में हो सकेगी। समन्तभद्राश्रम स्थापित करने में संभवतः उसके आयोजकों का यही उद्देश्य था। दुर्भाग्यत: वह उद्योग असफल हुआ। इसके लिये पुनः एकवार सुव्यवस्थित रूप से प्रयत्न किया जाना चाहिये।

उक्त कला और साहित्य भवन को ही जैन-गवेषणा का केन्द्र वनाया जा सकता है। वहांपर कुछ निस्वार्थ खोजकों की नियुक्ति करके जैन इतिहास संबन्धी अन्वेषण किया जा सकता तथा भवन की ओर से कुछ जैन युवकोंको कला-कौशल में विशेष योग्यता प्राप्त करने का उत्तेजन दिया जा सकता है।



